॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

१४२

सूक्ति-मञ्जरी

संस्कृत भाषा के सुन्दर सरस सुभाषितों का

संक्षिप्त संग्रह

सत्कविरसनाशूर्पीनिस्तुषतरशब्दशालिपाकेन ।
तृप्तो दयिताधरमपि नाद्रियते का सुधा दासी ॥

संग्रहकर्ता तथा व्याख्याता

बलदेव उपाध्याय

संचालक, अनुसन्धान संस्थान,
वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

१९६७

THE
VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA
142

SŪKTI MAÑJARĪ

[An Anthology of Charming Sanskrit Verses]

Compiled and explained
By
BALDEVA UPĀDHYĀYA
Director, Research Institute
Sanskrit University, Varanasi

THE
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
VARANASI-1
1967

समर्पण

श्रोताओं को भागवती कथा के द्वारा अमृतरस पिलाने वाले,
भागवत के मर्मज्ञ, हरि-भक्ति-परायण,
सरस सूक्तियों के उत्साही संग्रहकर्ता,
परम भागवत, गोलोकवासी,
पितृचरण पण्डित-प्रवर

श्रीरामसुचित उपाध्यायजी

की

पुण्यस्मृति में

सादर सप्रेम

समर्पित

—बलदेव

सरसा सालङ्कारा सुपदन्यासा सुवर्णमयमूर्तिः।
आर्या तथैव भार्या न लभ्यते पुण्यहीनेन ॥

❀ ❀ ❀

भ्रमरहिता सा कचवत् स्त्रीणां कुचवच्च सरसहिता।
लसदक्षरपीयूषाधरवत् कविता महात्मनां जीयात् ॥

❀ ❀ ❀

सत्सूत्रसंविधानं सदलङ्कारं सुवृत्तमच्छिद्रम्।
को धारयति न कण्ठे सत्काव्यं माल्यमर्घ्यं च ॥

❀ ❀ ❀

अकलितशब्दालङ्कृतिरनुकूला स्खलितपदनिवेशापि।
अभिसारिकेव रमयति सूक्तिः सोत्कर्षशृङ्गारा ॥

❀ ❀ ❀

शब्दशक्त्यैव कुर्वाणा सर्वदानर्घनिर्वृतिम्।
काव्यविद्या श्रुतिगता स्यान्मृतस्यापि जीवनी ॥

वक्तव्य

'सूक्ति-मञ्जरी' को सरस रसिकों के सामने प्रस्तुत करते हुए मुझे विशेष प्रसन्नता हो रही है। इस ग्रन्थ का संकलन मेरे युवावस्था के साथ सम्बन्ध रखता है। 'सूक्ति-मुक्तावली' के नाम से यह प्रकाशन अपनी चुटीली शैली, रोचक भाषा तथा मार्मिक आलोचना के कारण संस्कृत के रस-लोभी पाठकों के समाज में काफी प्रसिद्ध था, परन्तु अनेक दशकों से यह अप्राप्य हो गया था। उसी का यह परिवर्धित संस्करण रसिक पाठकों के लाभार्थ तैयार किया गया है।

इस में संस्कृत भाषा की सरस सूक्तियों का संग्रह किया गया है। ग्रन्थ में पन्द्रह परिच्छेद हैं, जिन में भिन्न-भिन्न विषयों के सुभाषित एक साथ रखे गये हैं। पुस्तक की उपादेयता तथा रोचकता बढ़ाने के विचार से ग्रन्थ के आरम्भ में एक छोटी-सी प्रस्तावना जोड़ दी गई है जिस में कवियों की शिक्षा-दीक्षा तथा चर्या का सामान्य वर्णन किया गया है ; संस्कृत के सुभाषित ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय प्रदान किया गया है तथा संस्कृत कविता की कुछ विशेषताओं का बड़े संक्षेप में उल्लेख किया गया है। स्थानाभाव के कारण प्रस्तावना का आकार छोटा रखा गया है। उसका उद्देश्य यही है कि संस्कृत कविता की विशेषताओं से सहृदय पाठक परिचित हो

जाँय। साथ-ही-साथ उन्हें कवि-शिक्षा का भी सामान्य परिचय प्राप्त हो जाय। यह विषय इतना रोचक तथा विस्तृत है कि इसके लिये एक अलग पुस्तक की आवश्यकता है ; तथापि संक्षेप में, जितना हो सका है, इसका सामान्य वर्णन पाठकों के सामने रखा गया है। पद्यानुक्रमणिका में पद्यों के सामने उनके रचयिता कवि का नाम भी रख दिया गया है। स्थानाभाव के कारण इन कविजनों का सामान्य भी परिचय मैं यहाँ नहीं दे सका हूँ। कवि चरित के जिज्ञासु पाठक इन में से कतिपय प्रधान कवियों का चरित्र तथा उनकी कविता की समीक्षा मेरी 'संस्कृत-सुकवि-समीक्षा' नाम की पुस्तक में देख सकते हैं।

इस सूक्तावली के अवलोकन से यदि पाठकों को थोड़ी देर के लिये भी आनन्द प्राप्त हो तथा संस्कृत कवियों की अन्य कमनीय सूक्तियों के पढ़ने की इच्छा उत्पन्न हो, तो यह अकिंचन लेखक अपने परिश्रम को सफल समझेगा।

संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी
श्रावणी पूर्णिमा, सं० २०२४
२०-८-६७

बलदेव उपाध्याय

प्रस्तावना

उपक्रम

संस्कृत भाषा की महत्ता

संस्कृतभाषा संसार-भर की भाषाओं में श्रेष्ठ है। यदि इस भूमि-वलय पर कोई भाषा सब से प्राचीन होने की अधिकारिणी है, तो वही हमारी संस्कृत भाषा ही है। इस भूमण्डल पर आजकल अपनी उच्च सभ्यता पर गर्व करने वाली जातियाँ जब जंगलों में घूम-घूमकर केवल अंग-संकेत से अपने मनोगत भावों को व्यक्त किया करती थीं तथा शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति किया करती थीं, उस समय अथवा उस समय से भी किसी बहुत प्राचीन अतीतकाल में हमारे पूजनीय पूर्वज आर्य लोग इसी देववाणी के द्वारा सरस्वती नदी के किनारे भगवान् की विभूतियों की पूजा मे रहस्यमयी ऋचाओं का सस्वर उच्चारण किया करते थे तथा आध्यात्मिक जगत की विकट समस्याओं को सुलझाया करते थे। संसार के सर्व-प्रथम ग्रन्थ तथा हमारे धर्म-सर्वस्व वेद भगवान् इसी गौरवमयी गीर्वाणवाणी मे आराधनीय ऋषियों के द्वारा भगवान् की आन्तरिक प्रेरणा से दृष्ट हुए थे। अध्यात्म की गुत्थियों को सुलझाने वाले तथा मानव मस्तिष्क के विकास की चरम सीमा को निदर्शन करने वाले उपनिषद् भी इसी भाषा में अभिव्यक्त किये गये हैं। इस पृथ्वी की उत्पत्ति से लेकर प्रलय तक का विस्तृत तथा विविध इतिहास प्रस्तुत करने वाले पुराणों की रचना इसी सुन्दर भाषा में की गई है। आर्यों की प्राचीन रीतियों, रूढियों तथा परम्पराओं का प्रशस्त तथा सर्वाङ्गपूर्ण वर्णन उपस्थित करने वाले धर्म-शास्त्रों की निर्मिति भी इसी भाषा में हुई है। सारांश यह है कि लौकिक अभ्युदय तथा पारलौकिक

नि श्रेयससिद्धि के साधन जितने ज्ञान-विज्ञान हैं, जितने कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड हैं, जितने शास्त्र-पुराण हैं, उन सबके अवगत करने का उपाय इसी संस्कृतभाषा के द्वारा है। एक वाक्य में हम कह सकते हैं कि परा तथा अपरा विद्याओं का यह निधान है—यह उनके ज्ञान प्राप्त करने का श्लाघनीय साधन है। ऐसी है हमारी परममहनीया विद्वज्जन-माननीया सौभाग्य-शोभनीया संस्कृत-वाणी।

संस्कृत-काव्योद्यान

इस समय हमें संस्कृत के उपरिनिर्दिष्ट विभागों की ओर न जाकर उसके परम पेशल विभाग—काव्य विभाग—की ओर दृष्टि निक्षेप करना है। यह वह विभाग है, जो सहृदयों की हृदय-कली को खिलानेवाला है, अमृत की वर्षा करनेवाला है, आनन्दरस को बरसानेवाला है। अहा! संस्कृत का काव्योद्यान भी कितना अभिराम है। यहाँ कितने सरस सुमन भीनी-भीनी गन्ध से रसिकों का मानसोल्लास कर रहे हैं। कितनी लोनी-लोनी लताएं मलयानिल के मधुर स्पर्श की शीतलता से उन्मादित होकर हर्ष से नाच रही हैं। इस कमनीय काव्य-वाटिका में कहीं कालिदास आम्रमञ्जरी की तरह रसभरी सरसता-पगी सूक्तियों के द्वारा शृङ्गार का मज़ा चखा रहे हैं, तो कहीं भवभूति अपनी भावमयी भव्य-नव्य रचनाओं के द्वारा पवित्र प्रेम की अभिव्यक्ति कर परम मङ्गल-मय आदर्श की सृष्टि कर रहे हैं। कहीं भारवि अपने अर्थ-गौरव से भरे काव्य के द्वारा प्रतापी अर्जुन के पाशुपत अस्त्र पाने की कथा सुना रहे हैं, तो कहीं माघ अपने पद-लालित्य-पूर्ण महा-काव्य के द्वारा भगवान् व्रज-चन्द्र नन्द-नन्दन के विविध विचित्र चरित्र सुनाकर सहृदयों का सतत मनोरञ्जन कर रहे हैं। कहीं बाणभट्ट अपने सरस-मधुर गद्य-काव्य के द्वारा त्रिलोक-सुंदरी कादम्बरी की कमनीय कथा सुना-सुनाकर

लोगों को मत्त बना रहे हैं, तो कहीं आचार्य-दण्डी दश कुमारों की आश्चर्यमयी आख्यायिकाओं से सहृदयों के हृदय में अद्भुत रस का सतत संचार कर रहे हैं। कहीं अमरुक कवि अपने मनोहर 'सततरसस्यन्दी' 'प्रबन्धायमाण' मुक्तकों के द्वारा शृङ्गार की ललित लीलाभङ्गियों का भावमय चित्र खींच रहे हैं, तो कहीं जयदेव अपनी कोमल-कान्त पदावली के द्वारा सरस मानस में वृन्दावनचन्द्र की सुचारु चन्द्रिका छिटकाते हुए अद्भुत अध्यात्म रहस्यों की अभिव्यञ्जना करते हुए मधुररस की वर्षा कर रहे हैं। कहाँ तक कहा जाय इस सुभग वाटिका की मनो-मुग्धकारिणी रमणीयता। इसे चतुर मालियों ने नेह से सींचकर हरा-भरा बनाया है, कमनीय क्यारियाँ काट-काटकर इसे खूब उपजाया है, बड़ी दक्षता के साथ अनावश्यक काँटे-कुशों को काटकर स्वच्छ किया है, मृदुल-मञ्जुल बनाया है, कमनीय-रमणीय किया है; सरस-सुभग उपजाया है। उद्यान है अवश्यमेव अवलोकनीय; उपवन है सचमुच सेवनीय, वाटिका है वास्तव में विचरणीय—ऐसा है संस्कृत का रमणीय काव्योद्यान; ऐसी है मनोरम संस्कृत की कवि-जन-कमनीया काव्य-वाटिका !

(२)

कवि-चर्या

संस्कृत-काव्योपवन का सामान्य दृश्य कतिपय पंक्तियों में ऊपर दिखलाया गया है। अब यह देखना है कि जिन्होंने इस उपवन की शोभा वृद्धि की है, इसके सौन्दर्य-सम्पादन का स्तुत्य कार्य किया है, उनकी शिक्षा-दीक्षा कैसी होती थी? किस प्रकार के खाद से उनके काव्य का अंकुर पनपता था? किस वातावरण में उनकी कवित्व-लता

लहलही होती थी तथा भाव सुमनों की प्रचुर प्रचुरता परिलक्षित होती थी। इस विषय का विचार हमारे यहां 'कवि शिक्षा' कहलाता है और अलङ्कार शास्त्र के ग्रन्थों में थोड़ा बहुत सर्वत्र इसका वर्णन पाया जाता है। इसके ऊपर स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे गये हैं, परन्तु सबसे सुन्दर और रोचक वर्णन उपलब्ध होता है कविवर **राजशेखर** की **'काव्य-मीमांसा'** में। इस अनूठे ग्रन्थ के बहुत से अधिकरण थे; परन्तु अभी तक 'काव्य रहस्य' नामक एक ही तथा पहला अधिकरण मिला है तथा गायकवाड़ ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुआ है।

काव्य हेतु

कविता के कौन कौन से उपकरण हैं? इस विषय म आलङ्कारिकों में गहरा मतभेद है। कोई प्रतिभा को कविता सर्वप्रधान साधन,बतलाता है, तो कोई व्युत्पत्ति को ही एकमात्र उपकरण मानता है। परन्तु वही मध्य मार्ग ठीक है, जो इन दोनों के समुचित समन्वय को ही सच्चा साधन स्वीकार करता है। ध्वन्यालोक के रचयिता आनन्दवर्धन दोनों में प्रतिभा को श्रेष्ठ मानते हैं, **'मंगल'** नामक प्राचीन आलङ्कारिक व्युत्पत्ति पर मुग्ध हैं; परन्तु **राजशेखर** प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति दोनों का साथ-साथ रहना आवश्यक बतलाते हैं।

प्रतिभा है ईश्वरीय दान। यह है कवि की वह भीतरी शक्ति जो उसके जन्म के साथ-साथ भगवद् की कृपासे उसे प्राप्त हुई है, अथवा जो भयुत्कट तपस्या के फल से किसी देवता के विशेष प्रसाद से जन्म के पीछे भी आविर्भूत हुई है। आनन्द का कथन है कि व्युत्पत्ति के न होने से जो दोष काव्य में होते हैं, उन्हें प्रतिभा ढँक लिया करती है। अत यही श्रेष्ठ है। प्रतिभा की आवश्यकता सब स्वीकार करते हैं, यह तो एक प्रकार से आवश्यक ही है। Poeta nascitur, non fit (कवि

पैदा होते हैं, गढ़े नहीं जाते) (Poets are born, not made)—इस लैटिन कहावत का भी यही अर्थ है कि कवि प्रतिभा जन्म-गत होती है, व्युत्पत्ति से साध्य नहीं। यह पक्ष है बहुत ठीक, लेकिन इसी को सब मान लेना उचित नहीं। हीरा स्वभाव से ही—जन्म से ही—हीरा है, परन्तु खान से निकालने पर उसमें वह चमकाहट कहाँ? वैसा लावण्य कहाँ? जो उसे खराद पर चढ़ाने से प्राप्त होता है। हीरा होते हुए भी वह संस्कार के पहले मलिन है। संस्कार से उसमें चमक आती है, संस्कार से उसमें मनोहरता आती है, संस्कार से उसमें बहुमूल्यता आती है। अतः संस्कार की बड़ी आवश्यकता होती है। इसके लिये अध्ययन की बड़ी जरूरत है। विद्या और उपविद्या का ज्ञान उसके लिये अवश्य करना चाहिए। काव्यविद्या चार हैं—नाम तथा धातु का पारायण (व्याकरण), कोश, छन्द शास्त्र तथा अलङ्कारशास्त्र। उपविद्याएँ हैं, चौसठों कलाएँ। इनका अध्ययन करना उसे अवश्य चाहिए। अच्छे कवियों की उसे संगति करनी चाहिए, देशवार्ता का ज्ञान करना चाहिये, विदग्धवाद, लोकयात्रा, विद्वद्गोष्ठी तथा पुरातन कवियों के निबन्ध ये काव्य की माताएँ हैं। राजशेखर ने आठ 'काव्यमातर' का नाम निर्देश किया है—स्वास्थ्य, प्रतिभा, अभ्यास, भक्ति, विद्वत्कथा, बहुश्रुतता, स्मृतिदृढ़ता, तथा अनिर्वेद (उत्साह)। ये काव्य के उत्पादक तथा पोषक हैं। लोक तथा शास्त्र का सदा परिचय प्राप्त करना कवि को चाहिए। इससे कवि को व्युत्पत्ति प्राप्त होती है। ऐसी कौन विद्या है, कौन कला है, कौन शास्त्र है, जिसका ज्ञान कवि को न चाहिए। इसीलिए आलोचकों ने आश्चर्य चकित होकर कहा है—अहो भारो महान् कवेः। कवि का भार बड़ा है—उसके ऊपर बड़ी भारी उत्तरदायिता है। काव्य में सब विद्याओं का उचित सन्निवेश उचित स्थान पर अवश्य होना चाहिए। प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति के संग में काव्यज्ञाता के पास रहकर

कविता का अभ्यास भी करना चाहिए। इन तीनों का ज्ञान काव्य के लिये आवश्यक है। इसीलिये मम्मट ने काव्यप्रकाश की निम्नलिखित कारिका में काव्य के कारणों का उल्लेख करते समय शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास इन तीनों की आवश्यकता दिखलाने के लिये (हेतु) हेतु शब्द का एकवचन में प्रयोग किया है :—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥

मिथिला के प्रसिद्ध साहित्यिक, 'काव्य-प्रदीप' के रचयिता, गोविन्द ठक्कुर के विषय में पण्डित समाज में एक रोचक आख्यान प्रख्यात है। कहते हैं कि एक बार बड़ी सभा जुटी थी। उसमें बाल की खाल निकालने वाले, कर्कश तर्क के सतर्क होकर अध्ययन करनेवाले तार्किक-पुंगव मैथिलों की भीड़ लगी थी। दर्शन के एक-से-एक अच्छे विद्वान् वहाँ उपस्थित थे। इसी बीच में गोविन्द ठक्कुर भी आ पहुँचे। वह मिथिला भर में साहित्य के नाते से प्रसिद्ध थे। पोच पण्डितों ने सोचा कि इन्हें नीचा दिखलाने का अच्छा अवसर है। वे मजे में जानते थे कि इन्होंने अध्ययन तो किया है केवल साहित्य का, इस दार्शनिक मण्डली में भला ये क्या कह सकते हैं। अतः उन्हें धर दबोचने का माकूल मौका आया देख वे लगे एक स्वर से पूछने—किमधीतं भवता? आपने क्या पढ़ा है? आपने किस शास्त्र का अध्ययन किया है? गोविन्द ठक्कुर ने उन रट्टू पण्डितगुरुओं पर बाज की तरह झपेटा मारते हुए अवढ़ पर झट उत्तर दिया—साहित्यमेवाधीतमस्माभिः, तदङ्गतया तु सर्वाणि शास्त्राणि अधीतानि। अध्ययन तो किया है मैंने केवल साहित्यशास्त्र का; परन्तु उसके अङ्ग—रूप से हमने सब शास्त्रों का अध्ययन किया है। यह उत्तर सुनते ही पण्डितों का मुँह फीका पड़ गया। गोविन्द ठक्कुर

ने कहा बहुत ही ठीक। क्या साहित्यिक केवल साहित्य ही को लेकर सन्तुष्ट होता है? उसका ज्ञान बहुत विस्तृत होता है, उसकी दृष्टि खूब दूर तक पडती है, वह बहुश्रुत होता है।

कवि-सृष्टि

कवि की सृष्टि भी क्या ही अनूठी है। वह तो दूसरा प्रजापति है। जैसा उसे रुचता है, सृष्टि तैयार है, नये भावों का समुदाय लाकर उपस्थित कर देता है, परन्तु कवि की समता इस विश्व के समुत्पादक ब्रह्मा से देना क्या युक्तियुक्त है? नहीं, कदापि नहीं। दोनों की सृष्टि में महान् अन्तर है—बड़ा भेद है। यद्यपि दोनों स्रष्टा हैं, एक है काव्य-जगत् का, दूसरा है पदार्थ-जगत् का, परन्तु दोनों की कृतियों म प्रचुर विभेद है। ब्रह्मा की सृष्टि नियति कृत नियम के अधीन है, परन्तु कवि की सृष्टि उन नियमों के अधीन नहीं। ब्रह्मा की सृष्टि त्रिगुणमयी है। उसम कभी आनन्द हृदय का उत्फुल्ल बनाता है, कभी दुःख चित्त को धर दबाता है और कभी मोह मन को विक्षिप्त बना डालता है परन्तु काव्य जगत् में केवल आनन्द ही आनन्द है, दुःख का नाम निशान तक नहीं। यहाँ तो हृदय को खिलानेवाली मस्ती है, हर वक्त मन में मौज का दौरा है; मन आनन्द की पुण्यपीयूष पूर्ण धारा म गोते लगाया करता है। न है यहाँ दुःख का नाम, और न है मोह का निशान। ब्रह्मा बाबा की सृष्टि कारण कलापों के परतन्त्र है। बिना मिट्टी और कुम्हार के इस संसार म घड़ा तैयार नहीं हो सकता, परन्तु कवि की सृष्टि सिवा उसके किसी अन्य के अधीन नहीं, वह अनन्य परतंत्र है—उसका प्रजापति स्वय कवि है। बिना किसी कारण के ही नई नई सुन्दर वस्तुओं को गढ़ा करता है वह। ब्रह्मा ने तो स्वयं छही रसों को बनाया है और ये भी सब के सब बिल्कुल अच्छे ही नहीं हैं। उनके कारण यह मानो सृष्टि

सदा रुचिर ही नहीं है। मधुर रस के आस्वादन करने पर अवश्य तबीयत प्रसन्न होती है, परन्तु नीम की तिताई का मजा कैसा? परन्तु यहां काव्य जगत् में तो नव रस हैं, और इनसे यह सृष्टि सदैव रुचिर बनी रहती है। रुचिरता को छोड़ कर अन्य कोई आस्वाद ही नहीं। इन्हीं कारणों से बाध्य होकर कहना पड़ता है कि हमारे कवि महोदय ब्रह्माजी से भी बढ़कर हैं। उनकी प्रजापति से उपमा देना वृथा है, उनके गुण गौरव को घटाना है। इसीलिये मम्मट ने अपने प्रसिद्ध साहित्य ग्रन्थ 'काव्य प्रकाश' का मंगलाचरण कवि भारती की भव्य प्रशंसा से ही किया है—

> नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
> नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति॥

अब तक कवि का सामान्य वर्णन उसके सच्चे स्वरूप के प्रदर्शन के साथ किया गया है। अब उसके रहन सहन का, बोलने-चालने का, ढंग दिखलाया जायगा। इस प्रकार से कविचर्या की सामान्य चर्चा यहां की जायगी।

कवि वेष भूषा

कवि को सदा शुचि रहना चाहिए। वचन की तथा मानस की शुचिता के संग में काय शुचिता भी अवश्य होनी चाहिए। उसके कपड़े-लत्ते ऐसे हों कि देखते ही कविजी समझ पड़ें, यह नहीं कि किसीको उसकी प्रशंसा कर उसका परिचय कराना पड़े। हाथ पैर के नख कटे होने चाहिये; मुंह में होनी चाहिए ताम्बूल की बीटिका-पान का बीड़ा। शरीर चाहिये अंगराग से मनोहर। देह के ऊपर चाहिये बेशकीमती अच्छे कपड़े और गले में होना चाहिए सुगन्धी फूलों का गजरा। यह प्रकार

'कवि वेष-भूषा' है। उनके बोलने का ढंग भी निराला हुआ करता है। जब बोलते हैं, तब मुसकराहट के साथ। शब्दों में वक्रोक्ति भरी रहती है; शब्द उचित अर्थ के कहने के लिए मानो ठीक नपे तुले से होते हैं। इस प्रकार उसके वेष से ही कवित्व नहीं प्रकट होता; वरन् उसके सरस शब्दों से भी उसका सच्चा कवि होना पाया जाता है—यह नहीं कि कहाने को तो कवि-सम्राट्; परन्तु उनके वेश में है भोंड़ापन भरा हुआ और बोलचाल में है गँवारपन सना हुआ। उनके श्रीमुख से न कभी कोई चुटीली उक्ति ही सुनी जाती है और न कोई अनूठा रिमार्क ही। न शब्दों में ही कोई बाँकपन, न अर्थ में ही कोई नयापन। बस, केवल साधारण ढंडे के आदमी की तरह कुछ बोल लेते हैं वे, किसी अपने मन के भाव को प्रगट भर कर लिया करते हैं। यह कवि का ढङ्ग नहीं है—इसमें न है कोई बाँकपन और न कोई सयानपन। हमारे संस्कृत कवियों का ढंग सदा निराला था। कविजी के चेहरे से—साथ-साथ वार्तालाप से भी—उनका कवित्व टपकता था—उनके सरस कवि-हृदय का पता चलता था।

कवि का निवास-स्थान

कवि का घर भी साफ-सुथरा होना चाहिए। छहों ऋतुओं में सुख देने वाले विविध स्थान चाहिए। घर के सामने रमणीय विविध तरु-समन्वित वाटिका चाहिए। उसमें हो कहीं कमनीय क्रीड़ा शैल, तो कहीं स्वच्छसलिला दीर्घिका, जिसमें कमलों का समूह मन को मोह लेता हो, तो कहीं कृत्रिम झरनों के झरने से चित्त नाच उठता हो। कहीं हरिण, हारीत तथा मयूरों की विचित्र लीलाएँ देखने को मिलती हों, तो कहीं सारस, चक्रवाक और हंस जल में किलोलें करके हृदय को उभारे ऐसे हों। सघन इतना, कि घाम का डर ही नहीं। बीच बीच में फौवारे छूट रहे हों, लताओं का झुरमुट मन को बरबस अपनी ओर खींच रहा

हो, झूलने के लिए सुन्दर झूले पड़े हुए हों। स्थान इतना सुभग होना चाहिए कि उसमें बैठते ही तबीयत फड़क उठे—नये भाव की अभिव्यञ्जना आप-से-आप हो जाय। कोमल-कान्त पदावली की सूझ स्वयं ही खिल उठे। ऐसे स्थान में कवि का घर होना चाहिए। अन्तःपुर की स्त्रियाँ संस्कृत तथा प्राकृत भाषा की जानने वाली होनी चाहिए। मित्र भी सब भाषाओं के जाननेवाले तथा बोलनेवाले चाहिए। नौकर तथा नौकरानियों को चालाक तथा भावुक होना चाहिए।

सुनते हैं, कि फ़ारस के किसी मशहूर शायर के पास अपनी शायरी के घमण्ड में चूर कोई दूसरे शायर इस गरज़ से आये, कि चलो, नाम तो उनका बहुत सुना है, आज अपने कानों उनका कलाम सुनें और जहाँ तक हो उनकी कविता में दोष दिखाकर उन्हें नीचा दिखावें। दुर्भाग्यवश इस घमण्डी शायर की दाहिना आँख में फूली थी। जब ये उस मशहूर शायर के दौलतखाने पहुँचे, तो दरवाज़ा घर का बन्द था। बाहर से ही उन्होंने उसे खोलने के लिये आवाज़ दी। शायर बड़े बूढ़े थे—बाँदी से कहा—कि देख तो, दरवाजे पर कौन हाँक मार रहा है। बाँदी ने धीरे से किवाड़ा खोला और दरवाजे पर खड़े उस शायर साहब को देखा। पूछने पर उन्होंने अपना नाम अबदुल्ला बतलाया। बाँदी उल्टे पाँव लौटी और मालिक से कहने लगी कि कोई मिर्या गबदुल्ला आपसे मुलाकात करने के लिये तशरीफ़ लाये हैं। शायर ने डपटकर कहा—कि हरामज़ादी कहीं की, भला किसी का नाम गबदुल्ला हुआ करता है; अबदुल्ला कह। बाँदी ने कहा—हुज़ुर, यहाँ सिर्फ़ 'एन' (ع) नहीं है, बल्कि उसके ऊपर खुदा ने एक नुक्ता पहले से बैठा रक्खा है (उनकी आँख की तिह्र की ओर इशारा था, 'एन' (ع) पर एक नुक्ता रखने से 'गैन' (غ) हो जाता है।) इसीलिए मैं इन्हें गबदुल्ला कह रही हूँ। बूढ़े शायर इस हाज़िर-जवाबी पर बेतरह रीझ गए। उधर अब घमंडी शायर भी

यह बात-चीत सुनी, तो दुम दबाये बैरन लौट गए, दिल में सोचा कि ऐं! जिसकी बाँदी इतनी चुस्त-चालाक है, उस मालिक की हालत कैसी होगी। बेचारे आए थे दूसरे का घमंड चूर करने, उल्टे लौटे अपना-सा मुँह लटकाये हुए।

दिनचर्या

कवि को चाहिए कि प्रहर के अनुसार दिन-रात को चार विभागों में बाँटे। प्रातःकाल उठकर सन्ध्यावन्दन कर एक पहर तक विद्याओं तथा उपविद्याओं का अभ्यास करे। दूसरे पहर में काव्यक्रिया करे—काव्य की रचना करे। लिखने के जितने सामान चाहिए, उतने उसके पास सदा प्रस्तुत रहने चाहिए। मध्याह्न के आस-पास स्नान करे तथा भोजन करे। अनन्तर काव्यगोष्ठी में समय बिताये। चौथे पहर में अकेले बैठकर या परिमित मित्रगोष्ठी की योजना कर पूर्वाह्न में विरचित कविता की आलोचना-प्रत्यालोचना करे। रसावेश में आकर कविता करने वाले की दृष्टि विवेकिनी नहीं होती; अतः रचना के अनन्तर उसकी परीक्षा करना परमावश्यक है। कविता ठीक होजाने पर रात के पहले पहर में उसका अच्छे अक्षरों में लिखा जाना चाहिए। कविता की अनेक कापियाँ करके रखनी चाहिए। यह उपदेश किसी दुर्घटना से काव्य को बचाने के लिए है। रात के दूसरे तथा तीसरे पहर में सोये तथा चौथे पहर ब्राह्ममुहूर्त में जगकर काव्यार्थ की भावना में दत्त-चित्त हो। मित्र आदि के सामने आधी बनी कविता कभी न पढ़े। इसका फल यह होता है कि वह कविता कभी पूरी नहीं होती। नवीन कविता अकेले किसी के सामने न पढ़े। यदि वह उसे अपना बना बताये, तो साक्षी कौन मिलेगा? अपने काव्य को बहुत न माने। पक्षपात, कवि को एक प्रकार अन्धा बना देता है। वह अपने काव्य के गुण-दोष का विचार नहीं कर सकता।

कभी गर्व न करे। गर्व का लेश भी सब संस्कारों को आमूल नष्ट कर देता है। काव्य की दूसरों से परीक्षा भी करानी चाहिए। यह सर्वत्र प्रख्यात है कि उदासीन पुरुष जो कुछ काव्य में गुण या दोष देखता है, वह उसका रचयिता कभी नहीं देख सकता। दृष्टि जो भिन्न होती है; श्रोता सुनते ही काव्य के दोष की उद्भावना झट से कर लेता है। राजशेखर के ये उपदेश कवि-मात्र को मान्य हैं—चाहे वह संस्कृत का कवि हो या भाषा का। ये उपदेश वास्तव में अनूठे हैं, व्यावहारिक; अतः उन पर चलना कविका कर्तव्य होना चाहिए।

कवि-विभाग

राजशेखर ने कवि को चार विभाग में बाँटा है—असूर्यम्पश्य, निषण्ण, दत्तावसर तथा प्रायोजनिक। 'असूर्यम्पश्य' कवि वह है, जो अपने भूमिगृह में घुसकर सदा कविता किया करता है। इसके लिए समय का कोई बन्धन नहीं, जब इच्छा हुई मस्ती में कविता करने लगे। 'निषण्ण' वह है जो काव्यक्रिया में अभिनिविष्ट होकर रचना करता है, नैष्ठिकवृत्ति से नहीं। इसके लिये कालका निर्धारण है। 'दत्तावसर' कवि के लिये कभी-कभी कविता के लिये समय मिल जाया करता है। यह अन्य कामों से अवकाश मिलने पर रचना में सलग्न हुआ करता है। 'प्रायोजनिक' कवि किसी प्रयोजन-विशेष पर—किसी प्रस्तुत संविधानक के उद्देश्य से—कविता करता है। प्रयोजन के वश से इसके लिये समय की व्यवस्था है। यह नियममुद्रा 'बुद्धिमत्' और 'आहार्यबुद्धि' कवियों के लिये है। 'औपदेशिक' कवि के लिये न तो नियम का कोई बन्धन है और न समय की कोई रुकावट। जब तबीयत उमड़ी, येलाग बहने लगे, बिना रोक-टोक रचना करने लगे।

'कवि-चर्या' का यह संक्षिप्त वर्णन यहीं समाप्त किया जाता है। इस

नियम से यदि कवि लोग काव्य रचना में प्रवृत्त हों, तो वास्तवमें अत्यन्त लाभ होने की सम्भावना है। परन्तु जैसा अभी कहा गया है, प्रातिभचक्षु सम्पन्न कवयिता के लिए यह बन्धन नहीं है, नियममुद्रा नहीं है। यह कवि अपनी मस्ती में न वैयाकरणों के कटु वचनों की पर्वाह करता है, और न तार्किकों के कर्कश शब्दों का खयाल। उसका अपने विषय में यही कहना है—

> यदन्तु कतिचिद्धठात् खफछठेति वर्णच्छटान्
> घट पट इतीतरे पटु रटन्तु वाक्पाटवात्।
> वयं वकुलमञ्जरीगलदलीनमाध्वीझरी—
> धुरीणपदरीतिभिर्भणितिभि प्रमोदामहे॥

कोई लोग (वैयाकरण) हठपूर्वक खफछठ आदि वर्णों को कहा करें, और दूसरे (नैयायिक) लोग घट पट आदि सदा रटा करें। हमें ऐसे लोगों से कुछ कहना नहीं है, वे लोग नीरस शब्दाडम्बर में अपना समय बिताया करें। हम (कवि) लोग तो बकुलमञ्जरी से झरते हुए मकरन्द के समान मधुर पद वाले काव्यों से आनन्द उठाया करते हैं। हमारा समय सदा कोमल कविता के मनन तथा अनुशीलन में बीता करता है। दूसरे लोग कर्कश शब्द जालमें भले फँसें, हम तो काव्यामृत का पान कर आनन्द मनाया करते हैं।

आलोचक

ये कवि लोग भी गुण ग्राहक भावुक के न मिलने के कारण प्राय अपनी पूरी कला का विकास नहीं कर पाते। उत्साह वर्धक के होने पर लड़नेवाले पहलवान का जोश दूना हो जाता है, सराहन वाले के होने पर कवि अपना जौहर खुलकर दिखाता है, अत भावक के बिना कवि का काव्य विशेष चमत्कार नहीं दिखलाता। यह कुछ ही कवियों की

विशेषता होती है कि प्रतिकूल परिस्थितियों में भी मस्ती-भरी कविता करते रहते हैं। साधारण रीति से भावक ज्ञाता की बड़ी आवश्यकता होती है। जब कोई आमकार आदमी किसी कवि की कविता पर दाद देता है, तब उसका उत्साह खूब बढ़ आता है, वह बढ़-बढ़कर काव्य रचना में प्रवृत्त होता है। जर्मनी के सबसे श्रेष्ठ कवि गेटे ने कितने ही व्यक्तियों को उनकी रचनाओं की प्रशस्त प्रशंसा कर, बड़ा भारी कलाविद् बना दिया। यदि उनका इस प्रकार उत्साह वर्धन न होता तो शायद वे इतने बड़े कलाकार न होते। हमारे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी कितनों को कवि बना दिया। जब कोई उन्हें अपनी कविता सुनाता तो उसे वह दिल खोलकर सराहते, खूब उसका उत्साह बढ़ाते। देखते-देखते वह दिन-प्रति-दिन अच्छा कहने लगता, अच्छी कविता करने लगता। इस प्रकार किसी सच्चे भावक के न मिलने से नितान्त विपण्ण किसी कवि की दुर्दशा देखिये। कवि और एक अन्य व्यक्ति के बीच कितनी सुस्त बातचीत हो रही है।

> कस्त्वं भोः कविरस्मि काप्यभिनवा सूक्तिः सखे! पठ्यतां
> त्यक्ता काव्यकथैव सम्प्रति मया कस्मादिदं श्रूयताम्।
> यः सम्यग् विविनक्ति दोषगुणयोः सारं स्वयं सत्कविः
> सोऽस्मिन् भावक एव नास्त्यथ भवेद् दैवान्न निर्मत्सरः॥

तुम कौन हो भाई! मैं तो कवि हूँ। तो मित्र! कोई नई सूक्ति ज़रा सुनाइए। मैंने आज कल कविता करना ही छोड़ दिया है। क्यों भाई! ऐसा क्यों कह रहे हो? तुम्हारे काव्यकथा छोड़ने का क्या कारण है? भाई, बात यह है कि जो कविता के गुण-दोष का ठीक ढंग से विचार कर सकता है, तथा स्वयं अच्छा कवि है, ऐसा भावक ही इस संसा में नहीं मिलता। यदि मिलता भी है, तो भाग्यवश वह निर्मत्सर

नहीं होता—सदा वह द्वेषी हुआ करता है। यही कारण है कि मैंने काव्य की चर्चा करनी ही छोड़ दी है। कवि का कहना बिलकुल ठीक है—

योद्धारो मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः।
अबोधोपहताश्चान्ये जीर्णमङ्गे सुभाषितम्॥

(३)

सूक्ति-संग्रह

मोटे ढंग से काव्य के दो भेद होते हैं—प्रबन्ध तथा मुक्तक। प्रबन्ध काव्य किसी एक चरित-विशेष का अवलम्बन कर लिखा जाता है। जैसे कुमारसम्भव, शिशुपालवध आदि महाकाव्य। मुक्तक काव्य अपने अर्थ तथा रस के लिये स्वतन्त्र हुआ करता है। उसके समझने के लिये पूर्वापर कथा सन्दर्भ जानने की कोई जरूरत नहीं होती। इस प्रकार पूर्वापर सम्बन्ध से मुक्त होने के कारण इसे 'मुक्तक' कहते हैं। मुक्तक पाँच प्रकार के होते हैं—शुद्ध, चित्र, कथोत्थ, संविधानक तथा आख्यानकवान्। जो इतिवृत्त से मुक्त हो—जो शृङ्गाररस की किसी घटना को लेकर लिखा गया हो, उसे 'शुद्ध मुक्तक' कहते हैं। वही सप्रपंच होने से 'चित्र' कहलाता है। बीती हुई किसी ऐतिहासिक घटना के आधार पर रचित मुक्तक 'कथोत्थ' नाम से पुकारा जाता है। यदि घटना सम्भावित हो, तो 'संविधानक' कहते हैं तथा परिकल्पित इतिवृत्त पर विरचित मुक्तक 'आख्यानकवान्' की संज्ञा प्राप्त करता है। इस प्रकार 'मुक्तक' के पाँच भेद राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में दिखलाये हैं और इनके उदाहरण भी अलग अलग दिये हैं।

मुक्तक-काव्य

पद्यों की संख्या के कारण मुक्तक काव्यों के भिन्न भिन्न नाम के संग्रह संस्कृत साहित्य में उपलब्ध होते हैं। एक सौ पद्य होने पर उन्हें 'शतक'

कहते हैं ; जैसे शृङ्गारशतक, नीतिशतक आदि। सात सौ पद्य एकत्र सम्मिलित होने पर उसे 'सप्तशती' कहेंगे, जैसे गाथा-सप्तशती तथा आर्यासप्तशती। मुक्तक के वर्ण्य विषयों में शृङ्गार, वीर तथा नीति की प्रधानता है। मुक्तकों के, विशेषतः शृङ्गाररस के मुक्तकों के, आचार्य महाकवि 'अमरुक' हैं। इनके मुक्तक रस से चुहचुहाते होते हैं तथा आनन्दवर्धन की माननीय सम्मति में वे 'प्रबन्धायमाण' होते हैं; अर्थात् जितने भाव, रस तथा अर्थ का सन्निवेश एक पूरे प्रबन्ध में किया जा सकता है, उतना अमरुक के एक-एक पद्य में पाया जाता है। इनका 'अमरुक-शतक' सहृदयों के गले का हार है—सुभाषितों का सुन्दर आगार है। अमरुक के अतिरिक्त गोवर्धनाचार्य की आर्या-सप्तशती, मूक की पञ्चशती, भर्तृहरि की सुभाषित-त्रिशती मुक्तककाव्य के विभिन्न विषयों पर लिखे गये अच्छे उदाहरण हैं।

सूक्ति-ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय

चमत्कारपूर्ण सुटीली उक्तियों के चुनने का कार्य संस्कृत में बहुत दिनों से होता चला आया है। इन संग्रह-ग्रन्थों में मुक्तकों का संग्रह है, साथ-ही-साथ प्रबन्ध काव्य के भी भाव पूर्ण कतिपय पद्यों का संकलन किया गया है; परन्तु इन सुभाषित ग्रन्थों में विशेषतया मुक्तक का ही संकलन रहता है। इसीलिए ऊपर मुक्तकों के विषय में थोड़ी सी चर्चा कर दी गई है। जहाँ तक लेखक की स्मृति जाती है, सबसे प्राचीन सुभाषित ग्रन्थ संस्कृत में न होकर प्राकृत में है। उसका नाम तद्गत छन्द के कारण गाहासत्तसई (गाथा सप्तशती) है तथा संग्रहकर्ता के नाम पर उसे हाल सत्तसई के नाम से भी पुकारते हैं। हाल या शालिवाहन दक्षिण के राजा थे। वे विक्रम की प्रथम शताब्दी में उत्पन्न हुए माने जाते हैं। उस समय महाराष्ट्री प्राकृत का प्रचुर प्रचार था।

कवि लोगों ने उसमें शृङ्गाररस से सनी लाखों गाथाएँ कही थीं। उन्हीं में से हाल ने केवल सात सौ रसभरी उक्तियाँ चुनकर एक साथ रख दीं, जो उनकी सम्मति में सुन्दर तथा रस भाव-पेशल प्रतीत हुईं।

> सत्त सताइं कइवच्छलेण कोडीअ मज्झआरम्भि
> हालेण विरइआइं सालंकाराणँ गाहाणम्।
> [सप्त शतानि कविवत्सलेन कोटेर्मध्ये
> हालेन विरचितानि सालङ्काराणां गाथानाम्॥]
> —१।३।

अर्थात् कविवत्सल हाल ने एक करोड़ अलङ्कारयुक्त गाथाओं में से सात सौ गाथाएँ बनाईं (चुनकर एकत्रित की)। अतः सुभाषित संग्रहों का प्रथम ग्रन्थ यही 'हाल सप्तशती' है। पीछे संस्कृत सूक्तियों का भी संग्रह होने लगा और सबसे प्राचीन संस्कृत सूक्ति ग्रंथ जो आज-कल उपलब्ध है—सुभाषितरत्नकोष है जिसके सङ्कलन कर्ता विद्याकर पण्डित हैं। यह ग्रन्थ 'कवीन्द्रवचन समुच्चय' के नाम से पहिले कलकत्ते से प्रकाशित हुआ था (१९१२)। ये जगद्दल बौद्ध विहार के मान्य आचार्य थे और उनका समय १००० ईस्वी के इधर का नहीं है। अतः इसका रचना काल लगभग ११वीं शताब्दी के आरम्भ में माना जाता है। दूसरा ग्रन्थ सदुक्तिकर्णामृत है। उसको बंगाल के प्रसिद्ध राजा लक्ष्मणसेन के धर्माध्यक्ष बटुदास के पुत्र श्रीधरदास ने १२०५ ई० में संकलित किया था। अतः इसका समय १२ वीं शताब्दी का अन्त तथा १३ वीं का आदि है। बंगाल आदि पूर्वीय देश के उस समय के प्रसिद्ध और आज-कल नितान्त अज्ञात कवियों के पद्यों का संग्रह इसकी विशेषता है। सूक्ति साहित्य का तीसरा ग्रन्थ सूक्ति-मुक्तावली है। इसके रचयिता का नाम जह्लण था। ये अपने पिता लक्ष्मीदेव के समान

ही दक्षिण भारत के राजा कृष्ण के मन्त्री थे। इनका समय १३ वीं सदी है। संस्कृत के प्राचीन कवियों के विषय में प्रशंसात्मक पद्यों का संकलन इसमें विशेषतया पाया जाता है। चौथा ग्रन्थ शार्ङ्गधर पद्धति है जिसकी १३६३ ईस्वी में दामोदर के पुत्र शार्ङ्गधर ने रचना की। यह सुभाषितावली से श्लोक-संख्या में बढ़कर है। इसमें ४६८९ पद्य हैं। वैद्यक, नीति आदि अनेक ज्ञातव्य विषयों का समुचित संग्रह इसमें किया गया है। पाँचवा नाम वल्लभदेव की सुभाषितावली का है। इसकी रचना संभवतः १५ वीं शताब्दी में हुई। इसमें भिन्न-भिन्न विषयों के साढ़े तीन हज़ार (३५२७) श्लोकों का संग्रह किया गया है। सूक्ति संग्रहों में ये ही प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। १५ वीं सदी के अनन्तर भी सूक्तियों का संग्रह होता चला आया है। बंगाल के रूप गोस्वामी ने भी कृष्ण-परक सुन्दर सूक्तियों का एक संग्रह पद्यावली के नाम से किया था। लक्ष्मण-भट्ट ने पद्यवेणी के नाम से एक अच्छा संग्रह १८ वीं सदी में प्रस्तुत किया था। समय समय पर अनेक सूक्ति संग्रह बनाये गये; परन्तु वे विशेष विख्यात नहीं हुए। इधर निर्णयसागर प्रेस ने सुभाषित-रत्न-भाण्डागार नामक एक ग्रन्थ निकाला है। आकार में यह ग्रन्थ अवश्य बड़ा है; परन्तु गुणों में तथा सूक्तियों के चुनने में यह ग्रन्थ उतना महत्व नहीं रखता। कलकत्ते से पूर्णचन्द्र दे ने प्राचीन कवियों की पुष्कल रचनाओं का संग्रह उद्भटसागर के नाम से किया है। इस प्रकार बहुत प्राचीन काल से लेकर अब तक सूक्तियों का संकलन बरा-बर होता चला आया है। हर एक संग्रह में संग्रहकर्ता की मनोवृत्ति का पता चलता है[1]।

इन सूक्तिग्रन्थों का उपयोग यही नहीं है कि इनमें सुन्दर कविताओं

---

१. इन सूक्ति ग्रन्थों के विस्तृत परिचय के लिए द्रष्टव्य मेरा ग्रन्थ 'संस्कृत-साहित्य का इतिहास' पृ० ३३३-३४९ (नवीन सं०, १९६७)।

का संग्रह एक जगह मिलता है, प्रत्युत अनेक अज्ञात कवियों की कविता भी यहीं मिलती है। अनेक कवियों के नाम का भी पता हमें इन्हीं सूक्ति ग्रन्थों से चलता है। यदि ये ग्रन्थ न होते, तो बहुत से सुकवियों के नाम सदा के लिये विस्मृति-गर्त में विलीन हो जाते। अतः हमें संस्कृत-साहित्य के इतिहास की दृष्टि से भी इन संग्राहकों का अतिशय उपकार मानना चाहिये।

प्रस्तुत ग्रन्थ सूक्तिमञ्जरी भी चुटकले संस्कृत पद्यों का संग्रह है। इस ग्रन्थ में अनेक स्थलों से समय-समय पर संगृहीत सूक्तियों का संचय है। प्रत्येक पद्य में चमत्कार पर विशेष ध्यान दिया गया है। किसी-न-किसी विचित्रता की उपलब्धि प्रायः हर श्लोक में होगी। विचार था कि प्रत्येक श्लोक के नीचे उसके रचयिता का नामोल्लेख किया जाय। अनेक स्थलों पर यह सम्भव भी था; परन्तु ऐसे बहुत से पद्य हैं, जिनके रचयिता के नाम का पता ही नहीं चलता। तथापि बहुत कुछ छानबीन करके जहाँ तक पता लग सका कवियों का नामोल्लेख पद्यानुक्रमणिका में कर दिया गया है।

(४)

संस्कृत-कविता की कुछ विशेषताएँ

माधुर्य

संस्कृत कविता अपने ढंग की एक निराली चीज़ है। जिसे इसका चस्का लग गया, उसे दूसरी कविता सुहाती ही नहीं। इसका मिठास तो सर्वत्र प्रसिद्ध ही है। जिसे कविता सुनने से वैराग्य हो गया हो, वह भी इस भाषा की मधुरता से पगी कविता सुनने का आनन्द उठा सकता है। जब इसकी सगी बेटियाँ व्रजभाषा, अवधी तथा पंजाबी आदि में इतनी मधुरिमा है, तो इनकी जननी संस्कृत की बात क्या कही जाय? इन भाषाओं की मधुरता भी चखते चलिये—

ब्रजभाषा—

जगि सोवनि में जगियै रहै चाह रहै बरराय उचैं रतिया।
भरि अंक निसंक है भेंटन को अभिलाख अनेक भरीं छतिया।
मन तें मुख लौं निज फेर परी कित ज्योर सकौं हित की बतिया।
'घन आनन्द' जीवन प्रान लखौं लुलियो किहि भाँति पठैं पतिया।

—घनानन्द

अवधी—

रंग भरि भरि भिजवइ मोरि अँगिया
दुहु कर लिहिस कनक पिचकरवा।
हम सन ठनगन करत डरत नहिं
मुख सन लगवत अतर अगरवा।
अस कस बसियत सुनु ननदी हो
फगुन के दिन यहि गोकुल नगरवा।
मोहि तन तकत थकत पुनि मुसुकत
'रसिक गुविंद' अभिराम लँगरवा॥

—रसिक गोविन्द

पंजाबी—

रोलियाँ मुफ्त लगावदाँ लाल,
गुलाब अबीर उड़ावदाँ होलियाँ।
बोलियाँ गालियाँ तालियाँ दे दाँ,
फरैदाँ गली विच थोलियाँ टोलियाँ।
घोलियाँ कित्ति न लाउदी जिंदि,
॥ उसी से लगी दिल प्रीति कलोलियाँ।
टोलियाँ रंग 'गुविन्द' भिजावदाँ,
गावदाँ रंग रँगीलियाँ होलियाँ॥

—रसिक गोविन्द

संस्कृत की मधुरता के विषय में बिहारी का यह दोहा सर्वथा ठीक जँचता है—

दाख दुखी मिसरी मुरी सुधा रही सकुचाय।

संस्कृत की मधुरिमा चखना हो, तो दूर जाने की कोई जरूरत नहीं। जयदेव के कोमल कान्त-पदावली ललित गीतगोविन्द का पाठ कीजिए; क्या अक्षर, क्या पद—सर्वत्र पदविन्यास इतना सुन्दर हुआ है कि एक भी पद अपने स्थान से हटाया नहीं जा सकता। यहाँ न तो इतना समय है, न स्थान, कि गीतगोविन्द से पद्य उद्धृत किये जाँय। अतः विश्वनाथ कविराज का एक पद्य माधुर्य की चाशनी चखने के लिये यहाँ दिया जाता है—

लताकुञ्जं गुञ्जन् मदवदलिपुञ्जं चपलयन्
समालिङ्गन्नङ्गं द्रुततरमनङ्गं प्रबलयन्।
मरुन्मन्दं मन्दं दलितमरविन्दं तरलयन्
रजोवृन्दं विन्दन् किरति मकरन्दं दिशि दिशि॥

मन्द मन्द बहने वाले मारुत का मनोरम वर्णन है। वह लता-कुञ्ज को हिला हिलाकर चपल बनाये जा रहा है—उस कुञ्ज को, जिसमें मद-मत्त अलिपुंज गुंजायमान है। वह अंग को आलिंगन कर रहा है; काम को जल्दी से प्रबल बना रहा है; मन्द-मन्द बह रहा है; खिले हुए अरविन्द को तरल कर रहा है; फूलों से परागवृन्द को ग्रहण कर वह प्रत्येक दिशा में मकरन्द को बिखेर रहा है। इस शिखरिणी को ठीक स्वर से पढ़िये, तो मालूम पड़ता है कि मन्द संचारी समीर की गति का यथार्थ अनुभव हो रहा है। कितनी माधुर्य-व्यंजक पदों की शय्या है! कितना रसानुकूल रमणीय अनुप्रास है! रसिक गोविन्द का व्रजभाषा में इसका यह अनुवाद भी इतना ही सरस है—

करि कुञ्ज लतानि को गुंजित मंजु, अलीन के पुंज नचावतु है।
अँग-अंग अलिंगि, उतंग अनंग सुविन्द की सी सरसावतु है॥

विकसे घन कंजिनी सों मिलिकै, रजरंजित ह्वै चलि आवतु है।
यह मन्द समीर चहूँ दिसि वृन्द सुगन्धनि के बरसावतु है॥

अनुप्रास

संस्कृत में अनुप्रास की बहार भी खूब है। शायद ही कोई भाषा होगी, जिसमें अनुप्रास की छटा इतनी सुन्दरता से दिखलाई जा सकती है। अंग्रेजी में How high His Highness holds his haughty head के Alliteration (अनुप्रास) को देख कर आनन्द से मस्त हो जाने वाले अंग्रेजी के प्रोफेसर लोग संस्कृत में किसी प्राचीन पाजक पण्डित के पकारपटुतामयी पदावली समन्वित इस प्रौढ पद्य को देखकर क्या कहेंगे ? उन्हें तो आश्चर्य चकित ही हो जाना पड़ेगा, क्योंकि इस शार्दूल विक्रीडित में जितने शब्द हैं, वे सब पकार से शुरू होते हैं। यहाँ 'पकार' का अनुपम अनुप्रास-पुञ्ज अवश्यमेव अवलोकनीय है। देखिए, पशुपति के पुण्यमय पादों के आलोकन करने की इच्छा पण्डित पाजक ने इस पद्य में किस सुचारु रीति से अभिव्यक्त की है—

> पूजापत्र परम्परा-पुलकितौ पाण्यौ परं पेलवौ
> पुण्यौ पातकिपापपाटनपटू पृथ्वीं प्रपन्नौ प्रथाम्।
> प्रायः पर्वतपुत्रिकापृथुपटैः पत्न्ये पुरा पूरितौ
> पादौ पण्डितपाजकः पशुपतेः प्रीत्या पुरः पश्यतु॥

श्लेष

श्लेष से भी संस्कृत कविता में बड़ा चमत्कार आ जाता है। इने-गिने शब्दों में विपुल भाव भर देने की कलाबाजी श्लेष के द्वारा संस्कृत में ही दिखाई जा सकती है। श्लेष जन्य चमत्कार अन्य भाषाओं में इतनी विचित्रता के साथ कभी दिखाया ही नहीं जा सकता। जान पड़ता है, कि 'श्लेष' संस्कृत के भाग में पड़ा है। एक दो श्लोकों में

श्लेष की विशिष्टता दिखलाई जायगी। देखिये, महाकवि वेंकटाध्वरि ने इस छोटे-से श्लोक-गागर में कितना भाव-सागर भर रखा है—

परमादिषु मातरादिमं यदिमं कोषकृताद मध्यमम्।
अमरः किल पामरस्ततः स बभूव स्वयमेव मध्यमः॥

कवि लक्ष्मीजी की कटि का विचित्र वर्णन कर रहा है। वह कटि सृष्टि के सबसे पहले पैदा होनेवाली वस्तुओं में पहली है—वह सबसे श्रेष्ठ है; क्योंकि इसकी रचना इस विश्व में सबसे पहले हुई; परन्तु ऐसी उत्तम कटि को कोशकार अमर 'मध्यम' कहता है ('मध्यम' कटि का पर्याय वाचक शब्द है—मध्यम चावलग्न चेत्यमरः।)—नीच बतलाता है। इस पातक से वह अमर पामर बन स्वयं इस मर्त्यलोक में आकर मध्यम बन गया है—नीच हो गया है। ये हजरत चले थे दूसरे को नीचा बतलाने, उत्तम को मध्यम कहने का साहस किया था, फल यह हुआ है, कि वह स्वयं नीच हो गया। वह ठहरा अमर-देवता, उत्तम लोक का निवासी, परन्तु इस कुकर्म के कारण वह पातकी बन इस मर्त्यलोक में आ बसा। था अमर, परन्तु बन गया मर्त्य; रहता था उत्तम लोक में, अब आ धमका मध्य लोक में। भगवती के विषय में किये गये पातक का फल उसको खूब मिला। अब ज़रा शब्दों की बारीकी का ख़याल कीजिये। 'परम' का अर्थ है जिसके अन्त में 'म' है; 'मध्य-म' का अर्थ है, जिसके बीच में मकार है, उसी प्रकार 'आदि-म' का अर्थ है आदि में मकारवाला शब्द। भगवती का मध्यम भाग (कटि देश) परम शब्दों में आदिम है अर्थात् मकारान्त शब्दों में आदि मकारवाला है—मध्यम के आदि तथा अन्त दोनों में मकार है, मध्य में 'ध्य' है; परन्तु कोशकार अमर ने उसे 'मध्यम' कह डाला है—उसके बीच में 'मकार' बतलाया है। इसका फल यह हुआ, कि वह पामर अमर स्वयं मध्यम बन गया—अर्थात् उसी के नाम के बीच में

'म' आकर जम गया—दूसरे को मध्यम बनाया ; परन्तु वही मध्यम हो गया ? बात ठीक ही है, क्योंकि 'अमर' के बीच में 'म' है तथा 'पामर' के बीच में भी। अतः पाप का परिणाम उसी के सिर आ धमका। कहिये, इस छोटे से अनुष्टुप् में कितना अर्थ भरा हुआ है। कवि ने यहाँ गागर में सागर भरने की लोकोक्ति चरितार्थ की है। यह विपुल अर्थ—सम्पत्ति श्लेष के कारण ही तो सिद्ध हुई है।

स्वभावोक्ति

स्वभावोक्तियाँ संस्कृत में इतनी सुन्दर हैं कि जान पड़ता है कि वह चीज़ हू बहू सामने आकर खड़ी हो गई है, मानों उसे आँखों देख रहे हों। ज़रा इस दृश्य को देखिए। प्रातःकाल हो रहा है। चौकीदार अपने समय को बिताकर सोना चाहता है। वह दूसरे पहरेदार को 'जागो' 'जागो' कह कर पद-पद पर जगा रहा है। वह पहरेदार जागते हुए भी सो रहा है। नींद के मारे अनर्थक और बोल कुछ शब्द वह कहता है अवश्य, परन्तु फिर भी वह सो जाता है, जाग कर भी अपने पहरे पर नहीं जाता। प्रातःकाल में पहरा देने वाले सिपाही का क्या ही मामा स्वाभाविक वर्णन माघ कवि ने किया है—

> प्रहरकमपनीय स्वं निदिद्रासतोच्चैः
> प्रतिपदमुपहूतः केनचिज्जागृहीति ।
> मुहुरविशदवर्णां निद्रया शून्य-शून्यां
> ददवपि गिरमन्तर्बुध्यते नो मनुष्यः ॥

श्लेष

श्लो० ○ ○ ○

गिने शब्द... इस दृश्य पर ज़रा दृष्टिपात कीजिये—

में ही दिया...

इतनी विधि... न्यः पतिरेष मञ्चकगतः स्थूणावदोषं गृहं

पड़ता है, कि... स्यर्णजलागमः कुशलिनी वत्सस्य वार्ताऽपि नो।

यज्ञात् सञ्चिततैलबिन्दुघटिका भग्नेति पर्याकुला
दृष्ट्वा गर्भभरालसां निजवधूं श्वश्रूश्चिरं रोदिति ॥

पति बूढ़ा है, साथ ही साथ अन्धा है, वह सदा खटिये पर पड़ा रहता है। घर में केवल खम्भे ही शेष रह गये हैं, उस पर छप्पर का नामोनिशान नहीं। बरसात बिल्कुल नजदीक आई हुई है। बेचारा लड़का गया है परदेश, अभी तक उसके कुछ समाचार नहीं मिले। बूँद बूँद करके घड़े भर तेल इकट्ठा किया था, कि बरसात के दिनों में रात के समय दीया तो जलेगा, घर में रोशनी तो हो गी, परन्तु हाय! वह घड़ा भी फूट गया। इधर पतोहू जो लड़का होने वाला है। वह गर्भ के भार से इधर उधर जा नहीं सकती। इस दुख दुखकर सास देर तक रोती रहती है। अहा, कितना दर्दनाक नजारा है! बूढ़ी सास की दुरवस्था का कितना सच्चा करुण वर्णन है। भारतीय ग्रामों में आज भी ऐसी सास एक नहीं, अनेकों हैं, जो घर में सिसक सिसक कर अपने दुखपर रोया करती हैं, और अपने भाग्य को रोया करती हैं। दैन्य का कितना सुन्दर चित्र है यह !!!

अनोखी कल्पना

संस्कृत में कवियों की एक से एक अनोखी सूझ मिलती है। उक्तियाँ एक दम अपूर्व हैं, अर्थ बिल्कुल विलक्षण है। यह पूरी पुस्तक ही अनोखी उक्तियों से भरी पड़ी है। पाठक उसे पढ़कर आनन्द उठाए। हाँ, एक दो यहाँ दी जाती हैं। देखिए, एक कविजी स्तनों पर कैसी विचित्र कल्पना कर रहे हैं। यह तो सब जानते हैं कि नायिका के स्तन हृदय में घाव करने वाले होते हैं, परन्तु इसका क्या कारण है? कवि कह रहा है—

स्वकीयं हृदयं भित्त्वा निर्गतौ यौ पयोधरौ।
अन्यदीयस्य हृदयस्य भेदने का कृपा तयोः ॥

जो पयोधर अपने हृदय को फाड़कर बाहर निकले हुए हैं, भला उन्हें दूसरे के हृदय फाड़ने में कैसी दया होगी ? कविजी ने बात बहुत ठीक कही, जिसे अपने हृदय के फाड़ने में दया नहीं, भला उन्हें, दूसरे के हृदय फाड़ने में दया कहाँ से आवे ? कितने सीधे शब्दों में बात कही गई है चुभती हुई।

ॐ ॐ ॐ

कोई पथिक नगर की ओर से आ रहा था। रास्ते में उसे दूसरा आदमी मिला और वह लगा उस पथिक से पूछने—भई, आप कौन हैं ! पथिक ने उत्तर दिया—मैं तो राही हूँ। फिर पूछा—आप इस समय कहाँ से चले आ रहे हैं ? राही ने जवाब दिया—मैं गाँव से चला आ रहा हूँ। तो भई, क्यों गाँव में कोई नया समाचार सुना है ; पथिक ने कहा—हाँ इस सुहावने पावस में भी प्रिया को छोड़ युवकजन जीवित हैं, यही बात सुनी है। उस आदमी को इस विषमता पर बड़ा आश्चर्य हुआ, उसके विस्मय की सीमा न रही, जब उसने सुना कि इस मन-भावन सावन में कोई पुरुष अपनी प्रियतमा को छोड़कर जीवित रह सकता है। अतः उसने अचम्भे में आकर पूछा—क्या यह कोई गप्प है या सच्ची खबर है। पथिक ने कहा—भई, लोगों को आपस में इस प्रकार की बात-चीत करते हुए मैंने भी सुनी ही है। उस मनुष्य ने बड़े विषादपूर्ण स्वर से कहा—हाय रे दैव ! समय भी कितना कुटिल आ गया है, लोग भी कितने तरह के हो गए हैं। जिस चीज़ की सम्भावना अब नहीं की जा सकती, इस पापी कलिकाल में। 'सर्वं सम्भाव्यतेऽस्मिन् पापिनि कलौ'। यह कथनोपकथन कितना रोचक है। वर्षाकाल में प्रियतमा के वियोग होने पर भी जीवित रहने की बात अनहोनी घटना है। यही कारण है कि कवि ने इस घटना को सुनकर अत्यन्त

विस्मय प्रकट किया। देखिये, कितने अच्छे ढंग से यह बात कही गई है—

> भ्रातः पान्थ ! कुतो भवान् ? नगरतो वार्ता नवा वर्तते ।
> वाढं, ब्रूहि, युवा पयोदसमये त्यक्त्वा प्रियां जीवति ॥
> सत्यं जीवति ? जीवतीति कथिता वार्ता मयापि श्रुता ।
> विस्तीर्णा पृथिवी जनोऽपि विविधः किं किं न सम्भाव्यते ॥

इस पद्य का अन्तिम चरण इसकी जान है। कितने साफ शब्दों में सभावना की द्योतना की गई है। यह पद्य कुवलयानन्द में सभवालङ्कार के उदाहरण में दिया गया है।

कोई कविजी किसी राजा के दरबार में गये। राजा था एक नंबर का कंजूस। कविता सुनकर पारितोषिक देने की बात अलग रही; उसने कमनीय कविता के प्रशंसा में अपना सिर तक नहीं हिलाया। कविजी इस व्यवहार से बेतरह बिगड़ खड़े हुए और सामान्यरूप से ऐसे कंजूस धनियों का बड़ा सुन्दर वर्णन कर डाला—

> एकैकातिशयालय. परगुणज्ञानैकवैज्ञानिकाः
> सन्त्येके धनिनः कलासु सकलास्वाचार्यचर्याचणाः ।
> अप्येते सुमनोगिरां निशमनात् बिभ्यत्यहो श्रद्धया
> धृते मूर्धनि कुण्डले कृपणत. क्षीणे भवेतामिति ॥

आपका कहना है कि इस संसार में एक-से-एक बढ़कर धनिक मिलेंगे, जो स्वयं सकल कलाओं में प्रवीण हैं तथा दूसरों के गुणों को अच्छी तरह से जानते हैं—उनकी क़द्र करते हैं। परन्तु कुछ ऐसे कंजूस भी मिलेंगे, जो विद्वानों के वचनों को सुनकर उनकी प्रशंसा करने से इसलिये डरते हैं कि सिर हिलाने पर उनके कानों के कुंडल रगड़ से कहीं घिस न जॉय ! वाह ! क्या ख़ूब कहा ! कविजी को कुछ देने की तो कथा ही अलग रही—रुपया पैसा देने की बात ही जुदी रही, यहाँ तो कविता

की प्रशंसा करने में भी कंजूसी है। बाणभट्ट की यह उक्ति बड़ी अनूठी है। कजूसी की एक प्रकार से हद हो गई।

सौकुमार्य वर्णन

सुकुमारता के वर्णन करने में उर्दू शायरों ने बड़ा नाम कमा रखा है। किसी अंश में उनकी अतिशयोक्तिपूर्ण उक्तियाँ सचमुच बड़ी मज़ेदार होती हैं, परन्तु संस्कृत साहित्य में भी इस प्रकार की उक्तियों का अभाव नहीं। जब उर्दू के मशहूर शायर नासिख़ की विरह कृशा नायिका को खोजने के लिये आशिक़ आता है और जब वह अत्यन्त तनुता के कारण दीख नहीं पड़ती तब वह बिस्तर के झाड़ने की तजवीज़ करता है, मानो वह खटमल सी कहीं पर चिपक गई हो।

> इन्तहाए-लाग़री से जब नज़र आया न मैं।
> हँस के वो कहने लगे बिस्तर को झाड़ा चाहिये॥
>
> —नासिख़

यह वर्णन नितान्त अस्वाभाविक प्रतीत होता है; परन्तु अब हमारे यहाँ वियोग विधुरा की कृशता का मुलाहिज़ा फर्माइये। देखिये, यह कितना सच्चा है—कितना स्वाभाविक है—

> उड्डयेत नतभ्रूः पक्ष्मनिपातोत्थितैः पवनैः।
> इति निर्निमेषमस्या विरहवयस्या विलोकते वदनम्॥

सखी वियोगिनी नायिका को बिना पलक गिराये हुए देख रही है। पलक इसलिये नहीं गिराती, कि कहीं नायिका पलक गिराने से पैदा हुई हवा के झोंके से उड़ न जाय। वह इतनी कृश हो गई है कि वह पलकों के गिरने की हवा से उसके उड़ जाने का अन्देशा है। कृशता की पराकाष्ठा है! सखी के निर्निमेष अवलोकन में कितनी सहानुभूति भरी हुई है! कितना अनुराग ओत प्रोत है! पलक न गिराने से स्वयं कष्ट भले

हो, मगी तो उड़ने से बच जायगी। कहिये, सहृदय कवि ने कितने अच्छे शब्दों में विरह विधुरा की कृशता अभिव्यक्त की है।

> सद्यः पुरीपरिसरेऽपि शिरीषमृद्वी
> गत्वा जवात् त्रिचतुराणि पदानि सीता।
> गन्तव्यमस्ति कियदित्यसकृद् ब्रुवाणा
> रामाश्रुणः कृतवती प्रथमावतारम्॥

शिरीष फूल की तरह सुकुमार सीता रामचन्द्र के साथ जंगल में जा रही है। अभी वह अयोध्या नगरी के आस पास ही हैं। वह जल्दी जल्दी तीन चार डगें भरकर रामजी से पूछती है—कि कहिए, अब कितना और चलना है। इस वचन को सुनते ही राम की आँखों से पहले पहल आँसू बह चलते हैं। अहा, सीता की सुकुमारता की क्या ही सुन्दर अभिव्यक्ति है। राम को जाना है अभी दूर विकट जंगलों में, परन्तु तीन चार पग चलने में ही सीता थक जाती है और चलने की समाप्ति के बारे में पूछने लगती हैं। धीरोदात्त राम के नेत्र से प्रथम अश्रु पात दिखलाना राम के सरस हृदय की मधुर व्यञ्जना है—उनकी रागात्मिका वृत्ति के प्रकटीकरण का नितान्त सुन्दर निदर्शन है। सुकुमारता की बात तो साफ ही है।

ज़रा इधर तो नज़र फेरिए। पण्डितराज जगन्नाथजी बड़े फेर में पड़े हैं। वे चाहते हैं कि उस तन्वङ्गी के अंगों का समुचित वर्णन पाठकों के सामने किया जाय, उसकी कोमलता की बात सहृदयों को समझाई जाय, परन्तु ठीक वर्णन हो नहीं पाता—

> नितरां परुषा सरोजमाला
> न मृणालानि विचारपेशलानि।
> यदि कोमलता तवाङ्गकानां
> अथ का नाम कथापि पल्लवानाम्॥

तुम्हारे सुकुमार अंग नितान्त कोमल हैं, उनके सामने कमलों की मात्रा अत्यन्त कठोर मालूम पड़ती है। मृणाल की बात क्या कहीं जाय ? वे तो विचार में भी सुकुमार नहीं प्रतीत होते, वास्तव में कहना ही क्या ! कवियों ने सुकुमारता के नाते अंगों की पल्लव से उपमा दी है, परन्तु यहाँ तो बेचारे पल्लवों की बात उठाना ही व्यर्थ है। जिनके सामने कमल कठोर जँचते हैं, मृणाल मन में गड़ते हैं, भला पल्लवों की क्या कूवत कि उन्हीं अङ्गों के सामने आ खड़े हों। ठीक है पण्डित राजजी महाराज आपका कहना यथा है ! भला, उस सचेतन कोमलता के सामने इन अचेतनों की पहुँच कभी हो सकती है? नहीं,कभी नहीं !

हिन्दी के रसिक पाठक नज़ाकत पसन्द उर्दू शायरों के कलामों से भली भाँति परिचित होंगे, उस गुल बदन माशूक के वर्णन पर रीझते होंगे, जिसके आरिज़ (कपोल) इसलिए नीले पड़ गये हैं, कि आशिक ने ख्वाब (स्वप्न) में उसकी तसवीर का बोसा (चुम्बन) लिया था—स्वप्न में केवल उसके चित्र का चुम्बन किया था—

क्या नज़ाकत है कि आरिज़ उनके नीले पड़ गए।
हमने तो बोसा लिया था ख्वाब में तसवीर का॥

उस नाज़ुक बदन से वे खुश होते होंगे, जिसके पैर मख़मल के फ़र्श पर फिसला करते हैं—

नाज़ुकी उन्हीं लब ख़तम है जो कि यह फ़रमाते हैं।
फ़र्श मख़मल पे कि जिनके पैर फ़िसले जाते हैं॥

वे बिहारी की उस सुन्दरी की सुकुमारता की भी बेतरह दाद देते होंगे, जिसके पैर जमीन पर केवल शोभा के भार के कारण सूधे नहीं पड़ते—

भूषणभार सम्हारिहै, क्यों यह तन सुकुमार।
सूधे पाँव न धरि परत, सोहि सोभा के भार॥

ऐसे सरस हृदय पाठक संस्कृत कवियों के सुकुमारता वर्णन में

कतिपय स्थलों का निरीक्षण करें और देखें कि ये वर्णन क्या किस तरह सौकुमार्य की कल्पना में किसी उर्दू शायर के वर्णन से घटकर हैं—व कोमलता की कल्पना में किसी प्रकार उनसे क्या न्यून ठहरते हैं ?

महाकवि बाणभट्ट ने कादम्बरी का वर्णन करते समय गन्धर्व लोक की नायिकाओं के सौन्दर्य का थोड़ा सा वर्णन किया है।

यत्र चालक्तकरसोऽपि चरणातिभारः, बकुलमालिकामेखला कलनमपि गमनविघ्नकरम्, अङ्गरागगौरवमपि अधिकश्वास निमित्तम्, अंशुकभारोऽपि ग्लानिकारणम्, अवतंसकुसुमधारण मपि श्रमः, कर्णपूरकमलतरलमधुकरपक्षपवनोऽप्यायासकरः।

जहाँ महावर का रस भी चरणों के लिये बड़ा भारी बोझा था, बकुलमालिका की मेखला पहनना चलने में विघ्न उपस्थित करता था, शरीर में अङ्गराग लगाना अधिक श्रम का कारण था। मलमल का कपड़ा भी ग्लानि पैदा करता था, कानों में कमलों के रस लोभी चंचल भौंरों के पंख से पैदा हुई हवा भी आयास करने वाली थी। इस स्वाभाविक वर्णन से सौंदर्य तथा सुकुमारता की सुभग व्यञ्जना होती है। इस वर्णन में तनिक भी कृत्रिमता नहीं दीख पड़ती किसी भी आलोचक को।

अब जरा इस सुन्दरी की सुकुमारता पर गौर कीजिये। कितना अलौकिक सामान्य सौन्दर्य उसके शरीर में विधाता ने भर दिया है। सुन्दरी के मन में इच्छा जगी कि फूल तोड़ूँ। उसने फूल को देखा भी केवल एक बार। बस क्या था, उँगलियाँ लाल हो गईं। फूल तोड़ने की तो कथा ही दूर रहे, अभी तो केवल सुन्दरी ने उसे देखा है; परन्तु यहाँ तो केवल फूल के देखने से ही उस सुकुमारी की उँगलियाँ लाल हो उठी हैं। यदि वास्तव में उसने अपने कोमल करों से फूल तोड़ा होता, तो भगवान् ही जाने उँगलियों की कैसी दुरवस्था हो

गई होती। उधर पैर में महावर लगाने की बात उठी और इधर पैर के तलवे लाल हो गये। बेचारों में महावर के बोझ सहने की ताकत कहाँ ? यहाँ तो केवल लगाने की चर्चा छिड़ते ही तलवे चर्चा मात्र से ही लाल हो जाते हैं। नायिका भी क्या ही नाजुक बदन है। भला कहीं चर्चा से इतना प्रभाव पड़ता है, परन्तु हमारे कवि जी की नायिका के तलवे केवल आशंका से लाल हो जाते हैं। अनुलेपन का स्मरण भी अंगों में अत्यन्त खेद पैदा कर रहा है। यदि अंगराग के लगाने से अंगों में ग्लानि पैदा हो जाती, तो एक बात भी थी। यहाँ तो कुछ विचित्र ही हाल है। अभी भविष्य में अनुलेपन लगाया जायगा। बस, उसकी याद ने ही शरीर में थकावट पैदा कर दी है। और अधिक उसके विषय में क्या कहा जाय। उसके बेलों की जो सुगन्ध है, वह भी बोझ-सी हो गई है। यदि कोरे लटकारे बेल भार से लगते, तो एक बात भी थी, यहाँ तो उनकी सुगन्ध भी भार का काम कर रही है। नायिका उनके भार से लची जाती है। कहिये, सुकुमारता की कितनी मधुर अभिव्यञ्जना है। वास्तव में यह सुन्दरी सुकुमारता की साक्षात् मूरत है, कोमलता की कमनीय मूरति है। निःसन्देह सौकुमार्य की यह कल्पना एक दम निराली है। कुवलयानन्द में चपलातिशयोक्ति के उदाहरण में दिया गया किसी अज्ञात कवि का यह पद्य कितना सुन्दर है—

> आदातुं सहृदीक्षितेऽपि कुसुमे हस्ताग्रमालोहितं
> लाक्षारञ्जनवार्तयापि सहसा रक्ते तले पादयोः।
> अङ्गानामनुलेपनस्मरणमप्यत्यन्तखेदावहं
> हन्ताधीरदृशः किमन्यदलकामोदोऽपि भारायते॥

—:o:—

विषयसूची

विषयसूची

पद्यानुक्रमणी

सूक्ति-मंजरी

भक्त-भावना

विघ्नविनाशक विनायक तुन्दिलमूर्ति श्री गणपति की स्तुति परक यह सूक्ति कितनी चमत्कारिणी है—

एकरदद्वैमातुर भिस्त्रिगुण चतुर्भुजोऽपि पञ्चकर।
जय षण्मुखनुत सप्तच्छदगन्धिमदाष्ट तनु तनय॥

गणेश जी की जय हो जिनका एक दाँत है, दो माता (पार्वती तथा गङ्गा) वाले हैं, सत्त्व रज-तम तीनों गुणों से बहिर्भूत हैं, चार भुजा धारण करने पर भी जो पाँच हाथ वाले हैं (यहाँ सूंड की हस्तरूप मे कल्पना कर 'पञ्चकर' का उल्लेख है), छह मुखवाले स्वामी कार्तिकेय के द्वारा जो नमस्कृत हैं, सप्तच्छद वृक्ष के गन्ध के समान जिनके मुख से गिरने वाला मद गन्ध धारण करता है और जो अष्टतनु (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र तथा यजमान मूर्तियों को धारण करने वाले अष्टमूर्ति) महादेव के पुत्र हैं। ऐसे गणपति की जय हो। इस श्लोक मे एक से लेकर आठ की संख्याओं का क्रमश निर्देश कर गणितीय चमत्कृति उत्पन्न की गई है। यही इस पद्य का वैशिष्ट्य है।

गौरी शङ्कर की स्तुति

भुजङ्गकुण्डली व्यक्त शशिशुभ्रांशुशीतगुः।
जगन्त्यपि सदाऽपायादव्यात् चेतोहरः शिवः॥

इस पद्य मे 'पुनरुक्तवदाभास' अलङ्कार का चमत्कार होने से मम्मट ने इसे दृष्टान्तरूप में प्रस्तुत किया है। आपातत देखने

से इसके चारों पादों में चार पद समानार्थक होने से 'पुनरुक्त' की भाँति प्रतीत हो रहे हैं, परन्तु भिन्नार्थक होने से यह केवल भ्रान्ति ही है। श्लोक का तात्पर्य है—साँप जिनके कानों में कुण्डल का काम करता है, प्रकट चन्द्रमा की उज्ज्वल किरणों के समान उज्ज्वल जिनका नन्दी शोभायमान है, ऐसे चित्त को हरण करने वाले (मनोहर) शङ्कर जी सदा समस्त जगतों को विघ्न से (अपायात्) रक्षा करें (अव्यात्)।

पिनाक-फणि-बालेन्दु-भस्म-मन्दाकिनीयुता ।
पवर्ग-रचिता मूर्तिरपवर्ग-प्रदास्तु वः ॥

भगवान् शङ्कर की मूर्ति पवर्ग के अक्षरों से आरब्ध-वस्तुओं से क्रमशः मण्डित है—पिनाक (धनुष), फणी (साँप) बालेन्दु (द्वितीया का चन्द्रमा), भस्म (विभूति) तथा मन्दाकिनी (गङ्गा) से। पवर्ग रचित अपवर्ग को देने वाली है—यही है इसमें विरोधाभास का चमत्कार—पवर्ग से विरुद्ध है अपवर्ग। अपवर्ग अर्थात् मोक्ष को देने वाला अर्थ करने से इस विरोध का परिहार हो जाता है। इससे भी अधिक चमत्कारी विरोधाभास त्रिपुरासुर को मारते समय शङ्कर की इस श्लाघ्य स्तुति में प्रयुक्त है।

आदाय चापमचलं कृत्वाहीनं गुणं विषमदृष्टिः ।
यश्चित्रमच्युतशरो लक्ष्यमभाङ्क्षीन्नमस्तस्मै ॥

भगवान् शङ्कर ने त्रिपुरासुर के मारने के लिए अचल (पर्वत हिमाचल) को चाप (धनुष्), सर्पों के राजा (अहीन) वासुकि को प्रत्यञ्चा, अच्युत (विष्णु) को बाण बनाया और अपने

लक्ष्य को विद्ध किया था। यही तो प्रकृत अर्थ है इस पद्य का, परन्तु इसमें विरोधाभास का विपुल चमत्कार है। शिव स्वयं विषम दृष्टि (असम दृष्टि तथा त्रिलोचन होने से विषम दृष्टि) है। धनुष है अचल नहीं चलने वाला, गुण (प्रत्यञ्चा) अहीन (हीन नहीं) था अर्थात् धनुर्दण्ड से अन्यून था। यह भी स्थिति लक्ष्यवेध की सहायक नहीं होती), बाण अच्युत था अर्थात् छोड़ा नहीं गया, तथापि लक्ष्य को शिव ने भिन्न कर दिया। इसी विरोध को प्रकट करने के लिए कवि ने 'चित्र' शब्द के द्वारा अपना विस्मय तथा आश्चर्य प्रकट किया है।

अपर्णैव लता सेव्या विद्वद्भिरिति मे मतिः।
यया वृतः पुराणोऽपि स्थाणुः सूतेऽमृतं फलम् ॥

कोई भक्त कहता है, कि मेरी यह राय है, कि अपर्णा (पत्र हीन तथा पार्वती) लता की सेवा करनी चाहिये, जिससे घिरा हुआ पुराना भी स्थाणु (वृक्ष तथा शिव) अमृतफल देता है। पार्वती के साथ रहकर शिवजी भक्तों को अमृतफल देते हैं। क्या ही अच्छा विरोधाभास है! लता में तो पत्ते भी नहीं हैं पर अमृत का फल भक्तों को मिल रहा है।

यह श्लोक शङ्कराचार्य के इस प्रसिद्ध पद्य की छाया लेकर रचा गया प्रतीत होता है—

सपर्णामाकीर्णां कतिपयगुणैः सादरमिह
श्रयन्त्यन्ये वल्लीं मम तु मतिरेवं विलसति।

अपर्णैका सेव्या जगति सकलैर्यत्परिवृतः
पुराणोऽपि स्थाणुः फलति किल कैवल्यपदवीम् ॥

(आनन्द लहरी)

पार्वतीमोषधीमेकामपर्णां मृगयामहे ।
शूली हालाहलं पीत्वा यया मृत्युञ्जयोऽभवत् ॥

हम पर्वत में होनेवाली बिना पत्तेवाली ऐसी ओषधि को ढूँढ़ रहे हैं, जिसके प्रभाव से रोगी विष को भी पीकर मृत्यु को जीत लेता है। ऐसी ओषधि स्वयं पर्वत-पुत्री भवानी हैं, जिसके साथ रहने से शूलधारी शिव हालाहल विष को भी पीकर मृत्युञ्जय नामधारी हो गये हैं। अतः पार्वती सेव्य हैं। भक्त की क्या ही श्लेषपूर्ण उक्ति है!

गंगा

गंगा के तीर पर निवास करने वालों का भाग्य तो परखिये—

अपि प्राज्यं राज्यं तृणमिव परित्यज्य सहसा
विलोलद्-वानीरं तव जननि! तीरं श्रितवताम्।
सुधातः स्वादीयः सलिलमिदमातृप्ति पिबतां
जनानामानन्दः परिहसति निर्वाणपदवीम् ॥

माता! जिन्होंने अपने विशाल साम्राज्य को भी तिनके के समान ठुकराकर लहलहाते हुए हरे-भरे बेंत आदि वृक्षों से युक्त तुम्हारे तीर का आश्रय लिया है, जो अमृत से भी अधिक

स्वादिष्ट तुम्हारे इस जल को भरपेट पीते हैं, उनका यह आनन्द मोक्ष के सुख का भी परिहास करता है अर्थात् गगा के तीर पर रहने वाले तथा मधुर गगा जल को पीनेवाले सज्जन उस आनन्द को छोडकर मोक्ष भी नहीं जानते, अन्य पुरुषार्थ की तो बात ही न्यारी है।

भक्त गगा मैया से प्रार्थना करता है कि तुम पतित जनों के उद्धार का व्रत छोड़ दोगी, तो जगत् मे तुम्हारा विश्वास ही उठ जायगा। अतः ऐसा न कीजिये—

> सदैव त्वय्येवार्पित-कुशल-चिन्ताभरमिमं
> यदि त्वं मामम्ब त्यजसि समयेऽस्मिन् सुविषमे।
> तदा विश्वासोऽयं त्रिभुवनतलादस्तमयते
> निराधारा चेयं भवति खलु निर्व्याज-करुणा॥

मैया, मैंने सदा से ही अपने कल्याण की चिन्ता का सम्पूर्ण भार तुम पर ही छोड़ रखा है। ऐसी दशा मे—मृत्यु के इस विकट समय मे—यदि तुम मुझे त्याग दोगी, तो तीनों लोकों से इस बात का विश्वास उठ जावेगा कि तुम पर भरोसा करने वालो का तुम निश्चय ही उद्धार कर देती हो। अहैतुकी दया—बिना किसी हेतु के ही दीनो पर दया करना—अब तक तो तुम मे ही, हे गंगे, निवास करती थी, परन्तु जब तुम ही स्वजनों को त्याग दोगी, तो यह दया निराधार होकर कहाँ रहेगी? फलतः तुम अपने जनों का उद्धार अवश्य करो, नहीं तो तुम्हारी कीर्ति को ऐसा न करने से बड़ी ठेस लगेगी। पण्डितराज जगन्नाथ ने अपनी 'पीयूषलहरी' (=गंगालहरी) मे ऐसे ही कमनीय पद्यो

के द्वारा गंगा की प्रशस्त स्तुति प्रस्तुत की है जो हार्दिक भावों की अभिव्यञ्जना में अपनी तुलना नहीं रखते।

सरस्वती

तमोगणविनाशिनी सकलकालमुद्योतिनी
धरातलविहारिणी जडसमाजविद्वेषिणी।
कलानिधि सहायिनी लसदलोल सौदामिनि
मदन्तरवलम्बिनी भवतु कापि कादम्बिनी॥

यहाँ कवि सरस्वती को अपने अन्तस्तल के भीतर निवास करने की प्रार्थना करता है। यहाँ सरस्वती पर मेघमाला का रूपक बाँधा गया है। दोनों तमोगण (अज्ञान तथा अन्धकार) नाश का करने वाली हैं, सकलकाल में चमकने वाली हैं, धरातल पर विहार करने वाली हैं; जड (मन्दबुद्धि तथा जल) समाज से द्वेष करने वाली हैं; कलानिधि (विद्वान् तथा चन्द्रमा) की सहायता दोनों को प्राप्त है। निश्चल बिजुली जिसमें विराजमान है ऐसी कोई अपूर्व कादम्बिनी मेरे हृदय में निवास करे।

आशासु राशीभवदङ्गवल्ली-
भासैव दासीकृत दुग्धसिन्धुम्।
मन्दस्मितैर्निन्दित शारदेन्दुं
वन्देऽरविन्दासनसुन्दरि! त्वाम्॥

इस पद्य मे उज्ज्वलवर्ण वाली सरस्वती की स्तुति की गई है। उसके कोमल-कमनीय अगों से फूटने वाली आभा ने, जो चारों ओर दिशाओं मे राशिरूप से व्याप्त होने वाली है, दुग्धसागर को अपना दास बना लिया है अर्थात् उससे बढकर चमकने की योग्यता रखती है। सरस्वती के होठों पर मन्द-मन्द मुसुकान छिटक रही है जिससे उन्होंने शरद् कालीन शुभ्रांशु चन्द्रमा को पराजित कर डाला है। वे स्वय श्वेतकमल के ऊपर विराजमान हैं। ऐसी सरस्वती को कालिदासीय काव्यों के ऊपर संजीवनी व्याख्या के रचयिता मल्लिनाथ नमस्कार कर रहे हैं।

श्रीकृष्ण

> स्मृतापि तरुणातपं करुणया हरन्ती नृणा-
> मभङ्गुर-तनुत्विषां वलयिता शतैर्विद्युताम्।
> कलिन्द गिरिनन्दिनीतट सुरद्रुमालम्बिनी
> मदीयमतिचुम्बिनी भवतु कापि कादम्बिनी।

श्री घनश्याम के ऊपर कादम्बिनी (मेघमाला) का रूपक बाँधा है पण्डितराज जगन्नाथ ने, परन्तु वह रूपक भी पूरा जमा नहीं। इसलिए उसे अपूर्व (कापि) कादम्बिनी कहना पड़ रहा है। साधारण कादम्बिनी से इस प्रकृत कादम्बिनी (कृष्ण) का वैशिष्ट्य नितान्त स्पष्ट तथा चमत्कारजनक है। वह कादम्बिनी तो उपस्थित होकर ही प्राणियों के तीव्र आतप (घाम) को करुणा से दूर करती है, परन्तु कृष्णरूपी कादम्बिनी स्मरण पर भी वही कार्य करती है। वह तो केवल एक बिजुली से और वह भी क्षणभंगुर बिजुली से सुशोभित रहती है परन्तु यह

तो नष्ट न होने वाली शोभा से युक्त सैकड़ों बिजुलियों (गोपियों के रूप में) से मण्डित रहती है। वह तो आकाश में ही लटकती है, परन्तु यह तो यमुना के किनारे कल्पतरु का आश्रय लेनेवाली है। ऐसी कृष्णरूपी कादम्बिनी मेरी बुद्धि का चुम्बन करे अर्थात् मेरी बुद्धि में सर्वदा स्फुरित हो अलङ्कार की विशिष्टता के साथ शब्दमाधुर्य भी नितान्त कमनीय तथा स्पृहणीय है ॥

कोई भक्त भगवान् कृष्णचन्द्रजी से कह रहा है—

क्षीरसारमपहृत्य शङ्कया स्वीकृतं यदि पलायनं त्वया ।
मानसे मम नितान्ततामसे नन्दनन्दन ! कथं न लीयसे ॥

हे नन्द के नन्दन ! यदि माखन चुराकर डरके मारे आप भागना चाहते हैं, तो मेरे अत्यन्त अज्ञानरूपी अन्धकार से पूर्ण मन में क्यों नहीं छिप जाते ? अन्धकार में आपको कोई नहीं पा सकेगा। आशय तो केवल इतना है कि हे कृष्ण ! आकर मेरे हृदय में वास करो, जिससे मेरा अज्ञान दूर हो जाय, पर बात कितने अच्छे ढग से कही गई है।

भक्त प्रार्थना कर रहा है—

हे कृष्ण कृष्ण भगवान् ! मम चित्तभृङ्गो
यायात् कदापि भवतश्चरणारविन्दे ।
देहादिपुष्पनिरतः कृपया तदानीं
प्रेक्षस्व वामनयनेन निजं पदाब्जम् ॥

हे कृष्ण ! विषयरूपी फूल में अनुरक्त, मेरा मनरूपी भौंरा,

यदि कदाचित् आपके चरण कमलों पर जा बैठे, तो उस समय कृपाकर आप अपने बाय नेत्र से उस चरण पर दृष्टि डालिये। विराट रूप जगदीश का वामनेत्र चन्द्रमा है। चन्द्रमा के उदय से कमल बन्द हो जाता है। प्रार्थना यह की जा रही है कि कृष्ण अपने बायें नेत्र से चरण कमल को देखेंगे, तो कमल सकुच जायगा और उस पर बैठा हुआ मनोभृङ्ग उसी मे बन्द हो जायगा, अत वाम नेत्र से देखने पर मन कृष्ण के चरणो मे अनुरक्त हो जायगा। क्या ही गूढ भाव एक छोटे श्लोक मे भक्त ने भर दिया है।

दासोऽहमिति मे बुद्धिः पूर्वमासीज्जनार्दने।
दा-शब्दोऽपहृतस्तेन गोपीवस्त्रापहारिणा॥

भक्त कहता है, कि पहले मेरी यह भावना थी कि दासोऽहम् में जनार्दन का दास (सेवक) हू, परन्तु अब गोपियों के वस्त्र चुराने वाले कृष्ण ने 'दा' शब्द को चुरा लिया है। अब मैं दास न होकर 'सोऽहं' (वही) हूँ, यह मुझे मालूम हो रहा है। पहिले भक्त अपने को इष्ट देवता का दास समझता है, परन्तु जब पूर्ण भक्ति उदित हो जाती है, तब वह देव स्वरूप ही बन जाता है। क्या भक्त और भगवान् मे कुछ अन्तर है?

विहाय पीयूषरसं मुनीश्वरा माङ्घ्रिराजीवरसं पिबन्ति किम्।
इति स्वपादाम्बुजपानकौतुकी स गोपबालः श्रियमातनोतु नः॥

बड़े बड़े मुनि लोग अमृत के स्वाद को छोडकर मेरे चरण कमल के रस को क्यों पीते है? मेरे पैरों मे क्या कुछ विशेषता

मालूम पड़ती है ? इनमें अमृत से भी शायद ज्यादा स्वाद है क्या ? इसलिये अपने चरण कमल को कौतूहल के साथ पीने वाले वह बालकृष्ण हम लोगों को लक्ष्मी दें।

भगवान् विष्णु की स्तुति है—

अतिविपुलं कुचयुगलं रहसि करैरामृशन् मुहुर्लक्ष्म्याः ।
तदपहृतं निजहृदयं जयति हरिर्मृगयमाण इव ॥

लक्ष्मी के बड़े कुचयुगल को एकान्त में अपने हाथों से छूते हुये विष्णु की जय हो। ज्ञात होता है, कि विष्णु भगवान् लक्ष्मी से हरण किये गये अपने हृदय को इधर-उधर ढूंढ़ रहे हैं।

बलदेवजी की स्तुति है—

संपात्याशु हिमांशुमण्डलमधः पीत्वा तदन्तः सुधां
कृत्वैनं चषकं हसन्निति हलापानाय कौतूहलात् ।
भो देव द्विजराजि मादृशि सुरास्पर्शोऽपि न श्रेयसे
मां मुञ्चेति तदर्थितो हलधरः पायादपायाज्जगत् ॥

बलदेवजी ने चन्द्र मण्डल को नीचे गिरा दिया। उसके भीतर के अमृत को पीकर कौतुक-पूर्वक उसे शराब पीने के लिये पात्र बनाना चाहा। इस पर बेचारा चन्द्र प्रार्थना करने लगा, कि मैं ब्राह्मणों का राजा हूं; मुझे तो मदिरा छूना भी न चाहिये; अतः मुझे छोड़ दीजिये। इस प्रकार प्रार्थित बलभद्रजी संसार को विघ्न से बचायें।

कृष्ण तथा सत्यभामा का यह उत्तर-प्रत्युत्तर कैसा अच्छा है—

अंगुल्या कः कपाटं प्रहरति कुटिले माधवः किं वसन्तो
नो चक्री किं कुलालो नहि धरणीधरः किं द्विजिह्वः फणीन्द्रः।
नाहं घोराहिमर्दी किमुत खगपतिर्नो हरिः किं कपीन्द्र
इत्येवं सत्यभामाप्रतिवचनजितः पातु नश्चक्रपाणिः ॥

सत्यभामा पूछती हैं—अंगुली से किवाड़ कौन खटखटा रहा है? कृष्ण कहते हैं—मैं हूं माधव। सत्य०—क्या आप वसन्त हैं? कृष्ण—नहीं चक्री (चक्र धारणेवाला) हूं, सत्य०—क्या कुलाल (कुम्हार)? कृष्ण—नहीं धरणीधर (पृथ्वी को धारण करनेवाला विष्णु)! सत्य०—क्या शेष नाग? कृष्ण—नहीं साँप को मर्दन करनेवाला हूं! क्या गरुड़ हो? नहीं, हरि (विष्णु) हूं, क्या वानर हो? इस प्रकार सत्यभामा के वचनों से जित गये कृष्ण हमारी रक्षा करें।

सच्चा शिवभक्त मुक्ति को भी अन्तराय-विघ्न मानता है, क्योंकि जगत् के प्रपंच से छूट जाने पर भगवान् शंकर में प्रीति करने का अवसर ही कहाँ रहता है? इसलिए काश्मीर के विख्यात महाकवि जगद्धरभट्ट यही कामना करते हैं कि शङ्कर में उनकी भक्ति निर्विघ्न तथा स्थायी बनी रहे।

मुक्तिर्हि नाम परमः पुरुषार्थ एक-
स्तामन्तरायमवयन्ति यदन्तरज्ञाः।
किं भूयसा? भवतु सैव सुधामयूख-
लेखा शिखाभरण भक्तिरभङ्गुरा वः ॥

सचमुच साधना के राज्य में भक्तों की दृष्टि में मुक्ति से बढ़कर भक्ति का सम्मानित तथा समादृत स्थान है और इसीलिए भगवान् मुक्ति को दे देते हैं, परन्तु भक्ति को कभी नहीं देते—

राजन् पतिर्गुरुरलं भवतां यदूनां
दैवं प्रियः कुलपतिः क्व च किंकरो वः ।
अस्त्वेवमङ्ग भजतां भगवान् मुकुन्दो
मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम् ॥

—भागवत ५।६।१८

आशय है कि भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं पाण्डव लोगों के और यदुवंशियों के रक्षक, गुरु, इष्टदेव, सुहृद् तथा कुलपति थे, यहाँ तक कि कभी-कभी आज्ञाकारी सेवक भी बन जाते थे। इसी प्रकार भगवान् दूसरे भक्तों के भी अनेक कार्य कर सकते हैं, और तो क्या ? उन्हें मुक्ति भी दे देते हैं, परन्तु मुक्ति से भी बढ़कर जो भक्तियोग है, उसे सहज में नहीं देते।

अग्राह्यं वसु गृह्यते प्रभुरसंसेव्यश्च संसेव्यते
प्राणाश्चेदपि यान्ति यान्त्वतिथये नान्नं पुनर्दीयते ।
कुक्षिः स्वोऽपि न पुष्यते यदुदयाल्लोभं तमेवोज्झितुं
तस्मै प्राञ्जलिरस्मि दाशरथये श्री जानकीजानये ॥

लोभ की महिमा तो देखिये। इस लोभ के वश में होकर अग्राह्य धन ग्रहण किया जाता है—जिस पापी चाण्डाल का अपवित्र धन छूना भी नहीं चाहिए, उसे हम लेते हैं। दुष्ट

स्वामी की सेवा की जाती है। यदि अतिथि माँगने के लिए आ गया, तो उसे खाने को अन्न नहीं देते, चाहे उस गरीब के प्राण निकल जॉय, तो भले ही निकल जाँय? भला, इसकी किसी को चिन्ता थोडे ही है। चिन्ता तो उस मुट्ठीभर अनाज की है जो देने पर अपने घर से चला जायगा। यदि अपनी कोख पूरी तरह से भरी जाती हो, सो भी बात नहीं। लोभ का उदय अपना भी तो पेट भरने नहीं देता। यह सब लोभ की ही महिमा है। उसी लोभ को छोडने के लिए हे जानकीप्रभु रामचन्द्र मैं हाथ जोडकर आपको प्रणाम कर रहा हू। प्रार्थना है बस, इस लोभ को मुझ से हटाओ भगाओ।

भगवान् की स्तुति मे किसी भक्त की कमनीय सूक्ति कितनी सच्ची और चमत्कारी है—

> त्वत् कीर्ति मौक्तिक फलानि गुणैस्त्वदीयैः
> संदर्भितुं त्रिदशरामदृशः प्रवृत्ताः।
> नान्तो गुणेषु न च कीर्तिषु रन्ध्रदेशो
> हारो न जात इति ताश्चकिता हसन्ति॥

एक बार देवाङ्गनाओ ने उद्योग किया कि भगवान् को एक मनोहर हार बनाकर पहिनाया जाय, परन्तु वह हार बन न सका और आज के इस वैज्ञानिक युग मे भी (जब नाना प्रकार की बोरिंग मशीन की उत्पत्ति हो गई है) वह हार बन नहीं सकता। क्यों? इसका क्या कारण है? भगवान् की कीर्ति ही ठहरी मोतियो का दाना जिन्हें वे भगवान् के गुणों (डोरा) मे गूँथ

फर हार बनाना चाहती थी। परन्तु इस प्रक्रिया में बड़ी
निकल आई। भगवान् के गुणों का कहीं अन्त नहीं औ
कीर्ति मोती में छेद ही निकला। हार बनाने के लिए डोरे
छोर तथा मोती में छेद मिलना निहायत जरूरी है। बिना
माला बन नहीं सकती। परन्तु उस अनन्त गुणसम्पन्न भग
के गुणों का अन्त कहाँ और उस निरञ्जन की कीर्ति में
सूचक छेद कहाँ ? हार बने तो कैसे बने। फलतः वे हार ब
मे हार जाती हैं और चकित होकर हँसती हैं। निरंजन अनन्
स्तुति में कितनी सुन्दर चमत्कारिणी व्यंग्यपूर्ण उक्ति है !!!

कवि-काव्य-पद्धति

काव्य की कितनी अच्छी प्रशसा है—

अविदितगुणापि सत्कविभणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम् ।
अनधिगतपरिमलापि हि हरति दृशं मालतीमाला ॥

अविदित गुणवाली भी सुकवि की उक्ति कानों मे मीठी लगती है, मानो मधु की धारा उडेलती है—जिस प्रकार गन्ध न मिलने पर भी मालती पुष्प की माला नेत्र को हरण कर लेती है। मालती-पुष्प की माला को देखते ही नेत्र खिंच जाते है। उसका गन्ध भले ही न मिले, उसका सुन्दर स्वरूप ही नेत्ररञ्जन करने के लिए पर्याप्त होता है। उसी प्रकार सुकवि की उक्ति—उसका गुण भले ही न ज्ञात हो—श्रोताओं के कान मे मधुधारा उडेलती है। सुन्दर शब्द विन्यास से ही चित्त प्रफुल्लित हो उठता है, भीतरी रस तथा गुण की बात अलग ही है। इस आर्या के द्वारा महाकवि सुबन्धु ने सत्कवि के काव्य का सच्चा परिचय प्रदान किया है।

दुष्ट आलोचक तथा उल्लू दोनों तुल्य होते हैं—इसका कारण सुनिए—

दोषानुरक्तस्य खलस्य कस्या-
प्युलूकपोतस्य च को विशेषः ।
अक्षीण सत्कान्तिमति प्रबन्धे
मलीमसं केवलमीक्षते यः ॥

केवल दोषों मे प्रेम करने वाले खल तथा रात ही मे अनुरक्त उल्लू मे क्या भेद है ? दोनो बिल्कुल तुल्य है, क्योंकि जिस प्रकार उल्लू दिन मे केवल अन्धकार ही देखता है, उसी तरह खल अच्छे गुण युक्त प्रबन्ध मे केवल दोषों को ही देखा करता है। उसे गुण दिखाई ही नही पडते।

किसी प्रचण्ड विद्वान् की गर्वोक्ति कैसी अच्छी है—

> अस्मानवेहि　　कलमानलमाहतानां
> येषा　　प्रचण्डमुसलैरवदाततैव ।
> स्नेहं विमुच्य सहसा खलता प्रयान्ति
> ये स्वल्पपीडनवशान्न वयं तिलास्ते ॥

समालोचक गण ! मुझे धान जानो, जो प्रचण्ड मूसल से अच्छी तरह मारे जाने पर और भी साफ होता जाता है। हम वे तिल नहीं है, जो थोडे प्रहार मे स्नेह (तेल) को छोड़ खल (खली) बन जाते है। जितनी ही मेरे काव्य की समालोचना होगी, उतनी ही अधिकता से वह चमकने लगेगा। रस को छोड़कर नीरस कभी नहीं होगा। वास्तव मे सत्कवि की तो यही प्रशंसा है। आलोचना के मूसल की कितनी भी चोट उस पर मारिये, वह धान की तरह चमकता ही रहेगा। धान जितना ही कूटा जाता है—चोट खाता है, उतना ही उजला होता चला जाता है। उसी प्रकार वे सुकवि लोग आलोचना से और भी उजले सिद्ध होते है, परन्तु थोड़ी चोट खाने पर भी तिल अपना रस छोड़ देता है और खली बन जाता है। यह कुकवि की कुलीला है कि थोड़ी सी भी आलोचना से घबड़ा उठते है। रस

छोडकर खल का व्यवहार करने लगते हैं। पद्य में श्लिष्टोपमा कितनी सुन्दर है।

दुष्ट समालोचकों पर बिल्हण की यह उक्ति कितनी ठीक उतरती है—

कर्णामृतं सूक्तिरसं विमुच्य दोषे प्रयत्नः सुमहान् खलस्य।
अवेक्षते केलिवनं प्रविष्टः क्रमेलकः कण्टकजालमेव॥

कानों को सुख देनेवाली सूक्तियों के रस को छोड़कर दुष्ट लोग कोशिश करके दोष ही ढूँढा करते हैं। सुन्दर आनन्द दायक केलि वन में जाकर ऊँट केवल कण्टक समूह ही को खोजता है। साम्य बिल्कुल ठीक है—ऊट और दुष्ट। दुष्ट आलोचक कविता के गुणों का आस्वादन नहीं करता। केवल दोषों को ही खोजा करता है। वाटिका कितनी भी सुन्दर क्यों न हो, ऊँट उसके फूलों का न तो स्वाद लेता है और न उन्हें खाता है। उसे तो केवल कुटिल काँटों की ही जरूरत रहती है। खाने के लिये वह उन्हीं को खोजता फिरता है।

तुकबन्दी करनेवाले और महाकवि में कितना अन्तर है—

हठादाकृष्टानां कतिपयपदानां रचयिता
जनः स्पर्धालुश्चेदहह कविना वश्यवचसा।
भवेदद्य श्वो वा किमिह बहुना पापिनि कलौ
घटानां निर्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलहः॥

इधर उधर से बलपूर्वक शब्दों को खींचकर पद्य रचने वाला

कवि नामधारी व्यक्ति यदि वश्यवाक कवि के साथ स्पर्धा करना चाहता है तो आज या कल कुछ दिनों के भीतर ही इस पापी कलियुग में घडों का बनानेवाला कुम्हार त्रिभुवन के रचयिता ब्रह्मा के साथ झगडा करेगा। ब्रह्मा और कुलाल के कलह का कारण उनका रचयिता होना है। कुलाल का ब्रह्मा से यही कहना है, कि जिस प्रकार आप प्राणियों को गढते हैं उसी प्रकार मैं भी घडों को गढा करता हूँ। फिर आपकी प्रतिष्ठा मुझसे अधिक क्यों होनी चाहिए? आपकी पूजा का मैं भी भागी हूँ। तुकबन्दी करने वाले व्यक्ति महाकवियों से इसी भाँति पद जोडने के नाते स्पर्धा करेंगे। वास्तव म इस बुरे ससार में सब सम्भव है। जिस प्रकार कुम्हार का ब्रह्मा के साथ कलह करना नितान्त उपहास्यास्पद है, उसी प्रकार तुकबन्दी करनवाले का महाकवि के साथ समता करन की बात है। दोनों एक ही कोटि की हास्यास्पद घटनाएँ है।

बिल्हण का यह श्लोक धनिकों को सदा स्मरण रखना चाहिये—

> लङ्कापते: संकुचितं यशो यद्
> यत् कीर्तिपात्रं रघुराजपुत्रः।
> स सर्व एवादिकवेः प्रभावो
> न कोपनीयाः कवयः क्षितीन्द्रैः॥

रावण का यश सकुचित हो गया और राम की कीर्ति सारे ससार में फैल गई। यह आदि कवि वाल्मीकि का प्रभाव है।

उन्होंने रामायण लिखकर रावण के चरित्र पर कालिमा पोत दी और राम के चरित्र को उज्ज्वल—आदर्श—बना डाला। अत राजाओं को चाहिये कि कवियों को कभी क्रुद्ध न करें।

यह क्या ही अच्छी उक्ति है—

अपि मुदमुपयान्तो वाग्विलासैः स्वकीयैः
परभणितिषु तृप्तिं यान्ति सन्तः कियन्तः।
निजघनमकरन्दस्यन्दपूर्णालवालः
कलशसलिलसेकं नेहते किं रसालः ? ॥

सज्जन लोग अपनी कविता से आनन्द उठाते हैं, तो भी दूसरों के काव्य सुनकर वे पूरे तृप्त हो जाते हैं। यद्यपि अपने पुष्परस के चूने से ही आलवाल (थाले) भर जाते हैं, तो भी क्या आम घड़े से सींचा जाना नहीं चाहता ? अवश्य चाहता है।

साधारण कवि लोग तो अपनी ही कविता को सबसे अच्छी समझते हैं। यह तो प्रसिद्ध ही है—

निज कवित्त केहि लाग न नीका।
सरस होय अथवा अति फीका॥

परन्तु वे सज्जन लोग संसार में इने ही गिने हैं, जो दूसरों की कविता सुनकर तृप्ति लाभ करते हैं।

जे पर भनिति सुनत हरषाहीं।
ते नरवर थोरे जग माहीं॥

आलोचना के इन कतिपय सिद्धान्तों पर ध्यान दीजिये। ये कितने यथार्थ तथा वास्तव हैं—

सूक्तौ शुचावेव परे कवीनां
सद्यः प्रमादस्खलितं लभन्ते ।
अधौतवस्त्रे चतुरं कथं वा
विभाव्यते कज्जलबिन्दुपातः ॥

कवियों की रमणीय उक्तियों मे दोष की प्राप्ति बहुत ही जल्दी होती है। यदि कपड़ा धुला हुआ न हो, तो उसमें लगा हुआ काजल का धब्बा क्या देखा जा सकता है ? उसके लिए तो परिश्रम करना पड़ेगा। धुली धोती मे काला धब्बा तुरन्त पहचान मे आता है।

नो शक्य एव परिहृत्य दृढां परीक्षां
ज्ञातुं मितस्य महतश्च कवेर्विशेषः ।
को नाम तीव्रपवनागममन्तरेण
भेदेन वेत्ति शिखिदीप मणिप्रदीपौ ॥

काव्य के गुण दोषो की बिना दृढ परीक्षा किये छोटे तथा बड़े कवि का अन्तर नहीं जाना जा सकता बिना आँधी चले कौन बतला सकेगा कि यह तेल का दीपक है और यह मणि का दीपक है। आँधी से बुझ जाने वाला होगा सामान्य तैलदीप और उससे न बुझने वाला होगा मणिदीप। फलत. तीव्र आलोचना तीव्र आँधड़ के समान होती है कवियों के पार्थक्य जानने के लिए—यह कथन यथार्थ है।

कुकवि की यह निन्दा कितनी सत्य है—

गणयन्ति नापशब्दं न वृत्तभङ्गं क्षयं न चार्थस्य ।
रसिकत्वेनाकुलिता वेश्यापतयः कुकवयश्च ॥

जिस प्रकार रसिक बनने के लिये व्याकुल वेश्या का पति (जार) गाली का कुछ ख्याल नहीं करता, अपने चरित्र के नाश तथा धन के क्षय को कुछ नहीं गिनता; उसी भाँति कुकवि रसिक कहलाने के लिए अशुद्ध शब्द, वृत्तभङ्ग (छन्दो भग) तथा अर्थ के नाश का कुछ भी ख्याल नहीं करता ।

महाकवियों के विषय में बिल्हण का यह श्लोक बिल्कुल ठीक है—

गृह्णन्तु सर्वे यदि वा यथेष्टं नास्ति क्षतिः कापि कवीश्वराणाम् ।
रत्नेषु लुप्तेषु बहुष्वमर्त्यैरद्यापि रत्नाकर एव सिन्धुः ॥

यदि अन्य कवि महाकवियों की सम्पूर्ण उक्तियों को भी चुरा लेवें, तो इससे कवीश्वर की हानि क्या है ? देवताओं ने समुद्र से बहुत से रत्न निकाल लिये, तिस पर भी वह आज रत्नाकर (रत्नों की खान) ही है । लोग रत्नहरण होने पर भी समुद्र को रत्नाकर ही कहते हैं ।

नैव व्याकरणज्ञमेव पितरं न भ्रातरं तार्किकं
मीमांसानिपुणं नपुंसकमिति ज्ञात्वा निरस्तादरा ।
दूरात् संकुचितेव गच्छति पुनः चाण्डालवच्छान्दसं
काव्यालङ्करणज्ञमेव कविताकान्ता वृणीते स्वयम् ॥

कविता रूपिणी स्त्री वैयाकरण के पास नहीं जाती, क्योंकि वह पिता है, नैयायिक को नहीं वरती, क्योंकि वह भाई है। मीमांसा में निपुण पुरुष को नपुंसक जानकर छोड़ देती है। चाण्डाल के समान छन्द जानने वाले से दूर से ही संकुचित होकर चली जाती है। केवल काव्य और अलङ्कार जानने वाले को वरती है—कविता का वही पति बनता है।

किसी कवि ने 'कालिदास' के नाम से क्या ही अच्छा उपदेश निकाला है—

नूनं नीचजनैः सङ्गो हानये सुरसेविता।
दासयोगेऽपि सा काली दृश्यते ह्रस्वतां गता॥

नीचों का साथ करना निश्चय ही हानिकारक होता है। देवताओं की पूजनीय श्रेष्ठ काली नीच दास के साथ रहने से ह्रस्वता (नीचता) को प्राप्त हो जाती है। आशय यह है कि 'कालिदास' शब्द में दास के साथ काली का दीर्घ इकार ह्रस्व हो जाता है। अतः नीच संसर्ग सदा त्याज्य है। आशय यह है कि नीच अर्थ के बोधक शब्द के साथ रहने पर ह्रस्वता आ जाती है, तो वास्तव में नीच के संग रहने पर कितनी नीचता प्राप्त होगी। सत्संगति की महिमा तथा दुःसंगति का दुष्परिणाम दिखलाने के लिये कितना रोचक उदाहरण खोज निकाला गया है। यह उपदेश सचमुच अनूठा है।

कालिदास की प्रशंसा में किसी ने क्या ही अच्छी कल्पना की है—

पुरा कवीनां गणनाप्रसंगे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासा।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावात् अनामिका सार्थवती बभूव॥

प्राचीन काल में कवियों की गिनती के समय सबसे श्रेष्ठ होने पर कालिदास की गणना कनगुरिया अंगुली पर की गई। आज भी उनके समान अन्य कवि के न मिलने से कनिष्ठिका की समीपवाली अँगुली या अनामिका (बिना नाम वाली) नाम अर्थ-युक्त है। दूसरी अँगुली का नाम तो अनामिका सहज ही है, परन्तु कवि उत्प्रेक्षा करता है, कि कालिदास के समान दूसरे कवि के न मिलने के कारण किसी का नाम गिनती के समय इस अंगुली पर नहीं पड़ा। अतः उसका अनामिका (बिना नाम वाली) नाम वास्तव में ठीक उतरा। कालिदास के सर्वश्रेष्ठ कवि होने का सिद्धान्त कितनी विचित्रता के साथ प्रकट किया गया है।

सुकवि तथा कुकवि का अन्तर जरा देखिये—

अवयः केवलकवयः कीराः स्युः केवलं धीराः।
वीराः पण्डितकवयस्तानवमन्ता तु केवलं गवयः॥

पाण्डित्य से विरहित केवल पद रचना करनेवाला कवि भेड़े की तरह है—भीतरी बात समझता नहीं। उसी भाँति कवित्व शून्य पण्डित जन कीर हैं—तोतों की तरह दूसरों की उक्तियों को रटते हैं, अपनी कल्पना से किसी नवीन अर्थ की योजना नहीं करते, परन्तु वे व्यक्ति वास्तव में वीर हैं—दूसरों को जीतनेवाले हैं, जो पण्डित भी हैं तथा कवि भी हैं। जो कोई ऐसे सुकवि का अपमान करता है, वह तो केवल गवय है—पशु है, विवेकहीन है। पद्य की अनुप्रासमयी पदयोजना वास्तव में विद्वज्जन-श्लाघनीय है।

पण्डित और सरस कवि मे अन्तर देखिये—

साक्षरा विपरीताश्चेत् राक्षसा एव केवलम् ।
सरसो विपरीतश्चेत् सरसत्वं न मुञ्चति ॥

साक्षर—पढ़े-लिखे—लोग यदि विपरीत आचरण करें, तो वे साक्षात राक्षस हैं। पण्डित वही है, जो शास्त्र के अनुसार आचरण करे ; परन्तु यदि वह ऐसा नहीं करता है, तो मूर्ख है, राक्षस है।

कहा भी है—

शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा
यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान् ।

परन्तु सरस व्यक्ति—सहानुभूति से पूर्ण मनुष्य—विपरीत भी हो जाय ; परन्तु वह अपनी सरसता नहीं छोड़ता। सहृदय व्यक्ति कितना भी उलटा आचरण करे, उसकी सरसता नहीं जाती—सरस हृदय बना ही रहता है। श्लोक मे एक विशेष चमत्कार है। यदि 'साक्षरा' को उलट दें, तो 'राक्षसा' बन जायगा, परन्तु 'सरस' को उलटने पर भी वह 'सरस' ही बना रहता है। इस शब्दचमत्कार के साथ अर्थ-वैशद्य भी खूब श्लाघनीय है! पण्डितों मे यह पद्य खूब प्रसिद्ध है।

काव्यरस की विचित्रता वास्तव मे श्लाघनीय है—

नमोऽस्तु साहित्यरसाय तस्मै निषिक्तमन्तः पृषतापि येन ।
सुवर्णतां वक्त्रमुपैति साधोर्दुर्वर्णतां याति च दुर्जनस्य ॥

उस साहित्यरस को हम लोग नमस्कार करते है, जिसके एक बूँद के ही भीतर पड़ने से साधु का मुख सुवर्ण (सुन्दर अक्षर वाला तथा सोना) हो जाता है तथा दुर्जन का मुख दुर्वर्ण (बुरे अक्षरवाला तथा बुरे रंग का) बन जाता है। 'रस' पारे को भी कहते है। यहाँ इस शब्द का श्लिष्ट प्रयोग है। पारे की कणिका भी अपने स्पर्श से किसी धातु को सोना बना सकती है। उत्तरार्ध मे इसी प्रसिद्ध घटना की ओर श्लेष के द्वारा सकेत किया गया है। यह पद्य 'नवसाहसाक चरित' के रचयिता 'पद्मगुप्त परिमल' का है। श्लेष कितना साफ-सुथरा है।

महाकवि भल्लट ने सत्कविजन के काव्य की कैसी समुचित समीक्षा की है—उसके सच्चे गुण का कितनी सादगी के साथ वर्णन किया है—

> बद्धा यदर्पणरसेन विमर्दपूर्व-
> मर्थान् कथं झटिति तान् प्रकृतान्न दद्युः ।
> चौरा इवातिमृदवो महतां कवीनां-
> मर्थान्तराण्यपि हठाद् वितरन्ति शब्दाः ॥

महाकवियों के शब्द अत्यन्त मृदुल होते है। जिन अर्थों को लक्ष्य कर वे एक संग बाँधे जाते है; उन प्रकृत अर्थों को वे क्यों न देंगे ? वे हठात् अन्य अर्थों को भी प्रकट करते हैं— यदि वाच्य अर्थ को उन्होंने प्रकट किया, तो कौन-सा अचम्भा है। वे तो उन व्यंग्य अर्थों को भी आप-से-आप व्यक्त करेंगे, जिनकी ओर बिना किसी सकेत के वे कवि के द्वारा बाँधे गये है। इस विशेषता मे वे कोमल-हृदय चोरों की तरह जान पड़ते

है। जिन चीजों के देने के लिये वे बलपूर्वक बाँधे जाते हैं, उन्हें तो वे 'अतिमृदु' चोर दे ही देते हैं, प्रत्युत उन चीजों को भी वे हाजिर करते हैं, जो कहीं दूसरी जगह चोरी गई थीं और जिनका उनके बाँधने से कोई खास मतलब नहीं था। व्यग्यार्थ प्रधान काव्य के ऊपर चोरों की उपमा बिल्कुल नई है—अनसुनी है—अनूठी है।

इधर उधर से पदों को भिडाकर तुकबन्दी करने वाले कवि को किसी सत्कवि की कैसी तेज भिड़की है—

स्वाधीनो रसनाञ्चलः परिचिताः शब्दाः कियन्तः क्वचित्
क्षोणीन्द्रो न नियामकः परिषदः शान्ताः स्वतन्त्रं जगत्।
तद् यूयं कवयो वयं वयमिति प्रस्तावनाहुङ्कृतैः
स्वच्छन्दं प्रतिसद्म गर्जत, वयं मौनव्रतालम्बिनः॥

रसना का अचल तुम्हारे वश में है—जीभ का सिरा तुम्हारे हाथ में है, जो चाहे कहते चले जाओ; कोई रुकावट तो है नहीं। कहीं-कहीं कुछ शब्द आपके परिचित हैं, जिससे कुछ तुकबन्दी आप मजे में कर सकते हैं। नियामक राजा नहीं है जो अनुचित काम करने पर आपको दण्ड से सत्कार करे। आलोचक पण्डितों की सभा भी शान्त है, जो आपकी कविता की पक्की आलोचना कर आपको इस कुकर्म से रोके। यह संसार स्वतन्त्र है, कोई आपको रोकने के लिए भी कमर कसकर तैयार नहीं। अतएव आप लोग बेलगाम होकर जो चाहे कीजिए—हर एक घर में 'हम लोग कवि हैं' 'हम लोग कवि हैं' इस बात का हुँकार करते हुए मजे से गरजिए। आप लोग स्वाधीन हैं, अपने

कवित्व का ढिंढोरा घर-घर मे पिटवाइए। हम लोग मौनव्रत का आलम्बन किए बैठे हैं—जो मनमे आवे लिखिए, जो चित्त मे भावे कहिए, कवि होने का नगाडा पिटवाइए—खूब उछलिए, कूदिये, चौकड़ी भरिए, हम लोग चुप हैं—अपने मुँह पर मौन की मुद्रा लगाए बैठे है। किसी तुकबन्द के प्रति सत्कवि की यह अवहेलना कितने ओज से पूर्ण है—अवमानना कितनी तेजस्विता से ओतप्रोत है। आत्म-सम्मान का भाव कितनी स्वच्छता से व्यक्त किया गया है।

त्रिविक्रम ने कितनी सुन्दरता के साथ कुकवियों की समता बालकों के साथ की है—

> अप्रगल्भाः पदन्यासे जननीरागहेतवः।
> सन्त्येके बहुलालापाः कवयो बालका इव ॥

इस ससार मे कुछ कवि लोग बालकों की तरह है। जिस प्रकार बालक पदन्यास मे—पैर रखने में—अप्रगल्भ होते हैं—अनिपुण हुआ करते है, उसी प्रकार ये कविजन भी कविता के पद जोडने मे नितान्त असमर्थ है। बालक अपनी जननी (माता) के अनुराग का कारण हुआ करता है—बालक को देखकर माता का हृदय खिल जाता है, ये कविजन भी पुरुषों के नीराग (राग के अभाव) के कारण होते हैं—इनकी कविता लोगों को पसन्द नहीं आती। बालक जिस प्रकार बहुलालाप (बहु + लाला + प) होते हैं—बहुत लाला (लार) पीने वाले होते है, उसी प्रकार ये कवि लोग भी बहुल आलाप वाले होते है। इनके काव्यों मे कुछ चमत्कार तो होता नही, परन्तु वे लिखने से बाज नहीं आते बहुत सी अनर्गल कविता श्रोताओं के गले

मढ ही देते हैं। अत कुचवियों तथा बालकों मे कुछ भी अन्तर नहीं। कितनी चमत्कारिणी सूक्ति है? कितना प्रसन्न श्लेष है? इतने सरस तथा सरल श्लेष अन्यत्र बहुत कम मिलेंगे।

करेरभिप्रायमशब्दगोचरं स्फुरन्तमार्द्रेषु पदेषु केवलम्।
वदद्भिरङ्गैः कृतरोमविक्रियैर्जनस्य तूष्णीभवतोऽयमञ्जलिः॥

सच्चा कवि अपने भावों को अभिधा के द्वारा कभी प्रकट नहीं करता। यदि वह साफ तौर से कह डाले तो उनमे मजा ही क्या आवेगा? वह केवल व्यञ्जना की सहायता से उन्हें प्रकट करता है। शब्दों के द्वारा अभिप्राय की अभिव्यक्ति नहीं होती, प्रत्युत कुछ रसभरे मनोहर पदों मे यह भाव झलकता रहता है। ऐसे महाकवि का सच्चा मर्मज्ञ किसे कह सकते हैं? उर्दू कविता के भावुकों की भाँति केवल भावावेश मे वाह, वाह, कहकर ही अपनी सहृदयता का पता देना संस्कृत कविता के सच्चे रसिक का काम नहीं। कवि के गूढ व्यञ्जना द्योतित अभिप्राय को समझकर जो रसिक शब्दों के द्वारा काव्यानन्द की सूचना नहीं देता, वरन् चुप रहकर भी जिसके रोमाञ्चित अङ्ग ही हृदय की आनन्दलहरी का पता साफ शब्दों मे बतलाते हैं, वही सच्चा रसिक है। ऐसे सहृदय शिरोमणि को मैं प्रणाम करता हूँ। रसिक की क्या ही सच्ची परिभाषा है? साराश यह है कि जिस प्रकार सच्चे कवि का कार्य ध्वनि के द्वारा भावबोधन कराना है, उसी भाँति सच्चे भावुक का कार्य व्यञ्जना के द्वारा ही उसकी सराहना करना है।

शब्द के द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति किस प्रकार की चमत्कारिणी होती है—अभिधा के द्वारा? नहीं, व्यञ्जना के द्वारा ही

यह नैसर्गिक सुषमा तथा चमत्कार पैदा करती है। इस तथ्य का उद्घाटन कोई कवि भारत की प्रान्तीय ललनाओं की वेषभूषा का आश्रय लेकर कितनी रसिकता के साथ यहाँ कर रहा है—

नान्ध्रीपयोधर इवातितरां प्रकाशो
नो गुर्जरीस्तन इवातितरां निगूढः।
अर्थो गिरामपिहितः पिहितश्च पश्चात्
सौभाग्यमेति मरहट्टवधूकुचाभः॥

आन्ध्रदेशीय सुन्दरी के अत्यन्त प्रकाश पयोधर के समान यदि शब्दों का अर्थ नितान्त अभिव्यक्त (अपिहित) हो, तो उसमें चमत्कार नहीं। न गुजराती सुन्दरी के अत्यन्त निगूढ पयोधर के तुल्य छिपे रहने पर वह अर्थ अपनी अभिव्यक्ति पाता है, क्योंकि यह अर्थ तो नितान्त निगूढ (पिहित) ठहरता है। अर्थाभिव्यक्ति के लिए आदर्श है कि वह प्रकाश निगूढ दोनों हो, न अति प्रकाश हो और न अति निगूढ हो। महाराष्ट्रीय ललना के अर्ध प्रकाशित तथा अर्ध निगूढ कुच की आभा वाला ही अर्थ सौभाग्य प्राप्त करता है। यह प्रसङ्ग व्यञ्जना की ओर स्पष्ट सङ्केत है। महाकवि टेनिसन ने प्रकारान्तर से इस तथ्य का प्रकाशन किया है—

Words like Nature, half reveal
And half conceal the soul within —In Memoriam

इसी कमनीय अर्थ को धर्माशोक कवि का यह श्लोक (सदुक्ति कर्णामृत ३।३२।५) बड़ी सुन्दरता से अभिव्यक्त कर रहा है—

अनुद्घुष्टः शब्दैरथ च घटनात् प्रस्फुटरसः
पदानामर्थात्मा रमयति न तूत्तानितरसः।

यथा किञ्चिद् दृश्यः पवनचलचीनांशुकतया
स्तनाभोगः स्त्रीणां हरति न तथोन्मुद्रिततनुः ॥

काव्य की वर्णन शैली की भिन्नता का प्रतिपादन करते हुये कवि कह रहा है—

नदन्तु कतिचिद् हठात् खफछठेति वर्णच्छटान्
घटः पट इतीतरे पटु रटन्तु वाक्पाटवात् ।
वयं वकुलमञ्जरीगलदमन्दमाध्वीझरी-
धुरीणपदरीतिभिर्भणितिभिः प्रमोदामहे ॥

इस पद्य में कवि वैयाकरण तथा नैयायिक की कथनरीति से अपने कथन प्रकार की विलक्षणता तथा विभिन्नता का प्रदर्शन बड़ी मार्मिकता के साथ कर रहा है। कुछ (वैयाकरण) लोग 'खफछठ' से समन्वित वर्णच्छटा वाले सूत्रों का हठ पूर्वक उच्चारण भले ही करते रहें तथा दूसरे (तार्किक) लोग 'घट' पट' जैसे वाक्की पटुता से युक्त वाक्यों के प्रयोग में ही अपना समय खपाते रहें, परन्तु हमलोग तो बकुल की मञ्जरी से गिरते हुए मान्द्र मधु के पुञ्ज से समन्वित पदरीति वाली कविताओं से ही आनन्द उठाते हैं। ध्यान देने की बात है कि वैयाकरण तथा नैयायिक की वचनरीति के निमित्त कवि ने उनकी शैली के अनुरूप ही कर्कश शब्दों का प्रयोग किया है, परन्तु अपनी रसमयी कविता का सङ्केत बड़ी मार्मिकता तथा मधुरता के साथ श्लोक के अन्तिम दोनों पादों में किया है। सरस काव्य की विलक्षणता बतलाने में ये श्लोक सचमुच चमत्कारजनक होते हुए भी यथार्थ हैं।

रस-तरंग

शृङ्गार

शृङ्गार-रस की क्या ही कल्पनात्मक उक्ति है—

दासे कृतागसि भवत्युचितः प्रभूणां
पादप्रहार इति सुन्दरि ! नास्मि दूये ।
उद्यत्कठोरपुलकाङ्कुरकण्टकाग्रै-
र्यद्भिद्यते मृदुपदं ननु सा व्यथा मे ॥

पति ने कुछ अनुचित व्यवहार किया था, इस पर स्त्री ने उन्हें एक लात जमा ही तो दिया। तब भार्याभक्त पुरुष महाराज कह रहे हैं कि हे सुन्दरी ! तुम्हारे लात मारने पर मुझे कुछ भी रंज नहीं है, क्योंकि अपराध करने वाले नौकर पर लात जमाना स्वामी को उचित ही है। परन्तु मुझे बड़ी भारी व्यथा इस बात की है कि पाद-प्रहार से हमारे शरीर मे रोमाञ्च उत्पन्न हो गया है। वह काटों का तरह चुभने वाला है। तुम्हारा पैर ठहरा अत्यन्त कोमल। मेरे कटकित शरीर के स्पर्श से तुम्हारा सुकुमार चरण कहीं छिद न गया हो—बस इसी बात की मुझे चिन्ता है ! लात खाने की नहीं। कहिए, भार्याभक्त जी की यह मनोवृत्ति कैसी है ?

विश्वनाथ कविराज ने 'मुग्धा' का नितान्त मनोरम स्वाभाविक वर्णन इस प्रशसनीय पद्य में किया है :—

धत्ते सालसमन्थरं भुवि पदं निर्याति नान्तःपुरात्
नोद्दामं हसति, क्षणात् कलयते ह्रीयन्त्रणां कामपि ।

किञ्चिद्-भावगभीरवक्रिमलव-स्पृष्टं मनाग्भाषते
सभ्रूभङ्गमुदीक्षते प्रियकथामुल्लापयन्तीं सखीम् ॥

वह जमीन पर अलसाए हुए मन्द-मन्द पाँव रखती है। अन्तःपुर—महल—के बाहर नहीं निकलती। ज़ोर से हँसती नहीं है। छन भर में लाज के मारे सकुच जाती है। कुछ-कुछ टेढ़ेपन से भरे, कुछ गम्भीर भाव से पूरे, कुछ बोल लेती है। प्रियकथा कहने वाली सखी को भौंहें तरेर कर देखती है। मुग्धा का यह वर्णन नितान्त स्वाभाविक है और अत्यन्त सरल शब्दों में प्रकट किया गया है। ब्रजभाषा के महाकवि 'रसिकगोविन्द' जी ने 'रसिकगोविन्दानन्दघन' नामक रीतिग्रन्थ में इसीका अनुवाद नीचे लिखे कवित्त में किया है:—

आलस सों मंद मंद धरा पै धरत पाय,
भीतर ते बाहिर न आवे चित चाय कै।
रोकति दृगनि छिन छिन प्रति लाज साज,
बहुत हँसी की दीनी बानी बिसराय कै।
बोलत बचन मृदु, मधुर बनाइ उर-
अन्तर के भाव की गभीरता जनाय कै।
बात सखी सुन्दर 'गोविन्द' की कहात तिन्हैं
सुन्दर बिलोकै बंक भृकुटी नचाय कै॥

प्रीति-वर्णन

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं, सर्वास्ववस्थासु यत्
विश्रामो हृदयस्य यत्र, जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।

कालेनावरणात्ययात् परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते ॥
—भवभूति

सच्चा प्रेम दुःख तथा सुख में एक सा रहता है। हर दशा में, चाहे विपत्ति हो या सपत्ति वह अनुकूल रहता है। जहाँ हृदय विश्राम लेता है, वृद्धावस्था आने से जिसमें रस की कभी कमी नहीं होती। समय बीतने पर बाहरी लज्जा, सकोच आदि आवरणों के हट जाने से जो परिपक्व स्नेह का सार बच जाता है वही सच्चा प्रेम है। प्रेम की क्या ही सुन्दर परिभाषा है ?

भवभूति ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि यह प्रेम बाहरी रूप से हृदय में अंकुरित नहीं होता, बल्कि एक हृदय को दूसरे हृदय से जोड़ने वाला कोई भीतरी कारण होता है—

व्यतिजपति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु-
र्न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते ।
विकसति हि पतङ्गस्योदये पुण्डरीकं
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः ॥

प्रीति किसी बाहरी कारण से पैदा नहीं होती, बल्कि कोई भीतरी कारण पदार्थों को आपस में मिलाता है। कहाँ तालाब में सकुचा हुआ कमल और कहाँ आकाश में उदित सूर्य ? परन्तु सूर्य के उदय होते ही कमल खिल जाता है और चन्द्रमा के उदय होने पर चन्द्रकान्तमणि पिघलने लगता है। अत वास्तव में प्रेम का उद्गम भीतरी कारणों से होता है। भवभूति ने इस सिद्धान्त को दृढ करने के लिये सासारिक उदाहरणों को न देकर

प्रकृति के अटल नियमों का उल्लेख किया है। यह कवि के गूढ दार्शनिक विचारों को प्रकट कर रहा है।

भवभूति पुरानी लकीर पीटने वाले विद्वान् न थे। नियमित साम्प्रदायिक तथा पिष्ट वस्तुओं का आदर उनके यहाँ नहीं था, इनके मस्तिष्क से हर जगह नवीन तथा मौलिक भावों की उत्पत्ति हुई है। अधिकांश संस्कृत कवि जूठी उपमाओं जैसे कमल-मुख, चन्द्रवदन आदि के प्रयोगों में ही अपनी सारी शक्ति खर्च कर गये हैं। परन्तु भवभूति ने मौलिक उपमाओं का आविर्भाव किया है उपमा प्रयोग में इनकी विशेषता यह है कि वाल्मीकि की तरह ये द्रव्य की उपमा किसी गुण से देते हैं अथवा ठोस वस्तु की उपमा किसी अव्यक्त वस्तु से देते हैं (विरहविधुरा-सीता का यह क्या ही सच्चा वर्णन है)।

नीचे के पद्य में स्नेह से होने वाले दुष्परिणाम की बात बतलाई गई है—

दुग्धं च यत्तदनु यत् क्वथितं ततोनु
　माधुर्यमस्य हृतमुन्मथितं च वेगात्।
जातं पुनर्घृतकृते नवनीतवृत्ति
　स्नेहो निरन्धनमनर्थपरम्पराणाम्॥

स्नेह ने बिचारे दूध की ऐसी दुर्दशा कर डाली है। स्नेह (घृत) के ही लिये बिचारा दूध गरम किया जाता है—खूब औंटा जाता है। काँजी डाल कर उसका मीठापन भी दूर किया जाता है, फिर बड़े जोरों से मथा जाता है, तब घी के ही लिये इसे मक्खन का रूप धारण करना पड़ता है। बताइए तो सही,

बिचारे दूध पर इतनी आफत क्यों? केवल स्नेह (घी तथा-प्रेम) के ही लिये तो। वास्तव मे स्नेह मनुष्यों के हजारों दु खों का मूल है।

हास्य-वर्णन

कृष्णः क्रीडितवान् गोभिरिति गोतुल्यबुद्धिषु।
पक्षपातवती लक्ष्मीरहो देवी पतिव्रता॥

लक्ष्मी भी बडी पतिव्रता हैं—अपने पति की बडी सेवा करने वाली है। उनके पति कृष्णचन्द्रजी बैलों के साथ खेल किया करते थे—बछडों के साथ जगलों मे खेला करते थे। इसीलिए लक्ष्मी बैल के समान बुद्धि वालों के पास जाती है—उनपर लक्ष्मी की कृपा है। वाह, लक्ष्मीजी भी खूब पतिभक्ता है, मूर्खों के ही पास आप रहतीं है। विद्वानो के पास आप खिसकती तक नहीं। लक्ष्मी की खूब दिल्लगी उडाई गई है।

हास्य रस का यह क्या ही अच्छा श्लोक है—

सामगायनपूतं मे नोच्छिष्टमधरं कुरु।
उत्कण्ठितासि चेद् भद्रे! वामं कर्णं दशस्व मे॥

कोई वैदिक अपनी स्त्री से कह रहा है—हे भद्रे! सामवेद के गाने से पवित्र मेरे होठ को चूमकर जूठा मत करो। अगर तुम्हे ज्यादा उत्कठा है, तो मेरे बायें कान को काट खाओ। होठ जूठे हो जायेंगे, तो फिर वेद कैसे पढूँगा? अत कान ही को दाँतो से कतर लो। वैदिकजी की कामुकता का कितना अच्छा वर्णन है। बेचारे ठहरे यज्ञ, यागादि के प्रेमी, उन्हें उनकी पत्नी

जी शृङ्गार जैसे अनर्थमय रस की ओर खींचना चाहती है। बेचारे आवें, तो कैसे आवें। सदा डरा करते हैं कि कहीं उनका सामगायन से पवित्र अधर कलुषित न हो जाय; परन्तु अपनी धर्मपत्नीजी का मान रखने के लिये किसी प्रकार कान कुतरने की आज्ञा दे देते हैं। वैदिकजी भी क्याही भोंडे हैं।

जगन्नाथजी पर एक हास्यमयी उक्ति है—

एका भार्या प्रकृतिमुखरा चञ्चला च द्वितीया
पुत्रस्त्वेको भुवनविजयी मन्मथो दुर्निवारः।
शेषः शय्या शयनमुदधौ वाहनं पन्नगारिः
स्मारं स्मारं स्वगृहचरितं दारुभूतो मुरारिः॥

एक स्त्री स्वभाव से ही बकवादिनी है, दूसरी (लक्ष्मी) चंचला है, एकलौता बेटा संसार विजयी काम अपने काम से कभी रोका नहीं जा सकता। शेषनाग विस्तरा है, समुद्र में सोते हैं, सवारी सर्पों का शत्रु (गरुड) है। घर के इस चरित को याद कर विष्णु भगवान् लकडी के हो गये हैं—चिन्ता से विचारे सूखकर काठ हो गये हैं। जगन्नाथजी की मूर्ति काठ की है। उसी पर किसी कवि की कमनीय कल्पना है।

शिवजी के विष पीने का कारण किसी ने यह सोचा है।

अत्तुं वाञ्छति वाहनं गणपतेराखुं क्षुधार्तः फणी
तं च क्रौञ्चपतेः शिखी च गिरिजासिंहोऽपि नागाननम्।
गौरी जह्नुसुतामसूयति कलानाथं कपालानलो
निर्विण्णः स पपौ कुटुम्बकलहादीशोऽपि हालाहलम्॥

भूखा साँप गणेश के वाहन मूसे को खाना चाहता है। साँप को षडानन का मोर खाना चाहता है। पार्वती का सिंह गजानन के भक्षण के लिये तैयार है। गौरी गंगाजी से द्रोह करती है। ललाट की आग चन्द्रमा से द्रोह कर रही है—उसे जलाना चाहती है! इस प्रकार घर के कलह से दुःखित होकर शिवजी ने विष पी लिया। गृह-कलह से उद्विग्न पुरुष भी क्या करता है? घबड़ाकर विष पी लेता है कि 'न रहेगा बाँस न बाजेगी बाँसुरी।' परन्तु यहाँ तो फल उलटा ही हुआ। विष खाया मर जाने के लिए; परन्तु हो गए मृत्युञ्जय!

वीर रस वर्णन

वीररस का श्लोक है—

भुजे विशाले विमलेऽसिपत्रे कोऽन्यस्य तेजस्विकथां सहेत ।
गतासुरप्याहव-मीम्नि वीरो द्विधा विधत्ते रविमण्डलं यः ॥

जब हम देखते है, कि युद्ध में मरा हुआ भी वीर सूर्यमण्डल के दो टुकड़े कर देता है, तब विशाल हाथों में चमक्ती तलवार रहने पर कौन वीर दूसरे की प्रशंसा सह सकता है? कहते है कि युद्ध में मरा हुआ योद्धा सूर्य मण्डल को वेधकर स्वर्ग में जाता है जैसा कि कहा है—

द्वाविमौ पुरुषौ राजन् सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड् योगमुक्तश्चरणे चाभिमुखो हतः॥

पद्य का आशय यह है कि जब मरने पर वीर की यह दशा है, कि सूर्यमण्डल को फोड़ देता है, तब जीते जी भला वह किसी तेजस्वी की कथा कैसे सुन सकता है? सुनकर यह कब चुप बैठ सकता है। वह तो दूसरेको मारने के लिए सदा तैयार रहता है।

करुण रस का उदाहरण

आदाय मांसमखिलं स्तनवर्जमङ्गा-
न्मां मुञ्च वागुरिक ! यामि कुरु प्रसादम् ।
सीदन्ति शष्पकवलग्रहणानभिज्ञा
मन्मार्गवीक्षणपराः शिशवो मदीयाः ॥

जाल मे फँसी हरिणी शिकारी से कह रही है कि हे शिकारी! स्तनो को छोडकर मेरे सब अगों से मॉस लेकर मुझे छोड दो। प्रसन्न हो, मुझे जाने दो। क्योंकि अभी घास के कौर खाने मे भी अनभिज्ञ मेरे बच्चे मेरी राह देखते रहे है। अत स्तन का मॉस मत लो, जिससे मैं अपने बच्चों को दूध पिला सकूँगी और सब माँस लेलो। करुण का कितना दयनीय चित्र है! पुत्रवत्सलता पशुओं मे भी कैसी विचित्र होती है।

हरिणी की दयनीय दशा का कितना करुणोत्पादक वर्णन है—

अग्रे व्याधः करधृतशरः पार्श्वतो जालमाला
पृष्ठे वह्निर्दहति नितरां सन्निधौ सारमेयाः ।
एणी गर्भादलसगमना शावकै रुद्धपादा
चिन्ताविष्टा वदति हरिणं किं करोमि क्व यामि ॥

हाथ मे धनुष बाण तान कर व्याध आगे खडा है, बगल मे पकडने के लिए जाल बिछे है, पीछे जगल की आग धधक रही है, समीप मे शिकारी कुत्ते खडे है। ऐसी विषम विपद् की दशा मे हरिणी गर्भ के भार से तेज जा भी नही सकती, तिस

पर छोटे छोटे छौनों ने उसके पैरों को रूँध लिया है। अतः चिन्ता मे डूबी हुई वह हरिणी अपने प्रियतम हरिण से कह रही है कि मैं अब क्या करूँ और कहाँ जाऊँ। सचमुच हरिणी की बड़ी विपन्नावस्था है। कितने साफ सुथरे शब्दों मे करुणरस का चित्र खींचा गया है—चित्र देखने ही लायक है—कविता पढ़ने के काबिल है।

व्याधों के द्वारा पीछा किए गए किसी हरिण की कितनी करुणापूर्ण उक्ति है:—

त्यक्तं जन्मवनं तृणाङ्कुरवती मातेव मुक्ता स्थली
विश्रामस्थितिहेतवो न गणिता बन्धूपमाः पादपाः।
बालापत्यवियोगकातरमुखी त्यक्ताऽर्धमार्गे मृगी
पश्यन्तः पदवीं तथाप्यकरुणा व्याधा न मुञ्चन्ति माम्॥

अपने जन्म वाले जंगल को मैंने छोड़ दिया, माता की तरह उपकारिणी तृण अंकुर वाली स्थली का मैंने परित्याग कर दिया, विश्राम तथा निवास के कारणभूत, बन्धु जन के समान, उन वृक्षों को मैंने कुछ नहीं गिना; नन्हें-नन्हें बच्चों के वियोग से कातर मुँह वाली, अपनी प्रियतमा मृगी को आधे रास्ते में मैंने छोड दिया; तथापि ये दयाहीन क्रूर व्याधा लोग मेरे रास्ते को देखते हुए मुझे नहीं छोडते हैं। मैं करूँ, तो क्या व्यही हाय! अपने प्राण बचाने के लिए—इन निर्दय व्याधोंवस्मय है। के वास्ते, मैंने क्या नहीं किया? पिता की तरह जन्म पिंजडा है को छोडा, माता की तरह स्नेहशीला स्थली सेभी तुर्रा यह है बान्धवों के सदृश प्यारे पादपों से नाता तोड़ा, फ्या इसमे रहस्ता

से वियोगसूत्र जोड़ा—इतना तो मैंने किया। संक्षेप मे, इनसे बचने के लिए सकल मोह-ममता तथा प्रिय वस्तुओं से विच्छेद सहा; परन्तु हाय! मेरे प्राण के गाहक ये क्रूर-हृदय वधिक लोग अभीतक मेरा पीछा किये ही चले आ रहे हैं—मुझे छोड़ते नहीं। बडी ही चुटीली उक्ति है—सचमुच यह हृदय मे घाव कर रही है। मृग की दशा पर मन बारम्बार रो उठता है—सहानुभूति की सरिता फट पड़ती है!

शान्त रस का वर्णन

विपयलित पुरुप के ऊपर क्याही अच्छी उपदेशमयी उक्ति है—

क्षिपसि शुकं वृपदंशकरदने, मृगमर्पयसि मृगादनरदने।
वितरसि तुरगं महिपविषाणे, विदधच्चेतो भोगवितानेे॥

यदि तुम ससार के भोगों मे अपने चित्त को लगा रहे हो, तो सुग्गे को बिलाव के मुँह मे फेंक रहे हो। मृग को सिंह के दाँतों मे डाल रहे हो, और घोड़े को भैंसे के सींगों पर फेंक रहे हो। विपय वासना मे मन को लगाना उतनाही सर्वनाशक है; जिस भाँति बिलाव के मुँह मे शुक को फेंकना। आशय है कि भोगविलास मे मन को कभी न लगाना चाहिये। इसमे अन्त्यानुप्रास अवलोकनीय है।

शाथ का राजसी ठाट बाट कितना अनूठा है:—
मे पकड़ने
रही है, सर्व रम्या शय्या विपुलमुपधानं भुजलता
दशा मे हरिणी चाकाशं व्यजनमनुकूलोऽयमनिलः।

शरच्चन्द्रो दीपो विरतिवनितासङ्गमुदितः
सुखी शान्तः शेते मुनिरतुलभूतिर्नृप इव ॥

शान्त मुनि अतुलवैभव सम्पन्न भूपति के तरह आनन्दित रहता है। यह मही उसकी रमणीय शय्या है, कोमल बाहु लता बड़ी तकिया है, आकाश का चँदवा उसके सिर पर तना हुआ है, अनुकूल बहने वाली हवा उसके लिए पखा झल रही है, शरद् काल का मनोरम चन्द्रमा उसके लिए दिए का काम कर रहा है और विरति (वैराग्य) उसकी प्राण वल्लभा प्रियतमा है, उसकी संगति मे आनन्दित हो, वह सुखी होता है और इस प्रकार सुख की नींद सोता है, जैसे कोई बड़ा राजा हो। राजा के लिए तो सामग्री बड़े परिश्रम से जुटाई जाती है, परन्तु शान्त मुनि के लिए प्रकृति ही सेवा करने के लिए तैयार है—सेवक की क्या जरूरत। भला उसका ठाट बाट किसी महाराज से कम थोड़े है। वास्तव मे मुनि का जीवन श्लाघनीय है—अभिकाक्षणीय है।

उद्घाटितनवद्वारे पञ्जरे विहगोऽनिलः।
यत्तिष्ठति तदाश्चर्यं प्रयाणे विस्मयः कुतः ॥

इस कायारूपी पिंजड़े मे खुले हुए नौ दरवाजे है और रहने वाली चिड़िया है—हवा। जो वह इसमे रहती है, यही आश्चर्य की बात है, इसके चले जाने मे कौनसा विस्मय है। बात बहुत ही ठीक कही है। यह शरीर भी विचित्र पिंजड़ा है इसमे दरवाजे एक, दो, नहीं, बल्की पूरे नौ। फिर भी तुर्रा यह है कि वे हमेशा खुले रहते हैं। प्राणोरूपी चिड़िया इसमें रहती

है—वही प्राण जो एक छोटे से छेद से होकर भी भग सकता है। इसीलिए इसके रहने मे अचम्भा है, जाने में नहीं।

यह दोहा इस श्लोक के आशय पर लिखा गया है—

नव द्वारे का पिंजड़ा, तामे पंछी पौन।
रहने को आश्चर्य है, गये अचंभा कौन॥

आरण्यवास के आनन्द का यह वर्णन कितना है—

दयितजनवियोगोद्वेगरोगातुराणां
विभव-विरह-दैन्य-म्लानमानाननानाम् ।
शमयति शिवशल्यं हन्त नैराश्यनश्यद्भ-
वपरिभवतान्तिः शान्तिरन्ते वनान्ते ॥

आशय— जिन लोगों का हृदय दयित जनों के वियोग के उद्वेग रूपी रोग से आक्रन्त है और धन के नाश से उत्पन्न होने वाली दीनता के कारण जिनका मुख फीका पड़ जाता है, उनके हृदयगत तेज बाण को दूर करने मे एक ही वस्तु समर्थ होती है और वह है अन्त मे वन मे निवास। उनके चित्त से निराशा के कारण संसार के परिभव का क्लेश दूर भाग जाता है और वे शान्ति का आनन्द लेने लगते हैं। क्षेमेन्द्र का यह पद्य उनकी सच्ची अनुभूति पर आश्रित होने से नितान्त यथार्थ तथा आकर्षक है।

सांसारिक विषयों मे आसक्त व्यक्ति की आत्मावमान सूचक उक्ति कितनी सजीव तथा चमत्कारजनक है:—

धन्यानां गिरिकन्दरेषु वसतां ज्योतिः परं ध्यायता-
मानन्दाश्रुकणान् पिबन्ति शकुना निःशङ्कमङ्केशयाः।
अस्माकं तु मनोरथोपरचित-प्रासाद-वापी-तट-
क्रीडाकानन-केलिकौतुकजुषामायुः परं क्षीयते॥

वे लोग सचमुच धन्य हैं जो पर्वत की कन्दराओं मे निवास करते हुए परम ज्योति का ध्यान करते हैं और जिनकी गोदी मे बैठे हुए पक्षी आनन्द के मारे आँखो से बहने वाले आँसुओं के कणों को पिया करते हैं। हम सासारिकों का जीवन तो देखिये। हम मनोरथ के सहारे महल, बावली के किनारे क्रीडाशैल के ऊपर नाना प्रकार की रेलियों का विचार किया करते हैं और हमारी आयु दिन प्रतिदिन ऐसी ही कपोल कल्पना मे क्षीण होती चली जाती है। कभी सुखका स्वाद जानते नहीं। ससारी पुरुष दिन-रात गृहस्थी की चिन्तामे डूबा रहता है और हवाई महल बनाया करता है। भला वह आनन्द की बात क्या जाने। दोनो जीवनों का वैषम्य कितनी रुचिरता से यहाँ खींचा गया है।

काल की विपुल महिमा तथा प्रभावशालिता की कितनी रमनीय सूचना इस पद्य मे है.—

लक्ष्मी-रम्भा-कुठारस्य भोगाम्भोदनभस्वतः।
विलास-वन-दावाग्नेः को हि कालस्य विस्मृतः॥
न गुणा हीनविद्यानां श्रीमतां क्षीणसम्पदाम्।
कृतान्तपण्यशालायां समानः क्रयविक्रयः॥

१ सू०

काल (मृत्यु) लक्ष्मी रूपी रम्भा (वृक्ष) के लिए कुठार है जो उसे काट कर जमीन पर गिरा डालता है। वह भोग रूपी मेघ के लिए अंधड़ है जो उसे क्षण भर में तितर-बितर कर देता है। वह विलास रूपी जगत के लिए दावाग्नि है जो उसे क्षण में भस्म कर डालता है। भला ऐसा प्रभावशाली काल किसीको भुलाये रहता है? यमराज के बाजार में खरीदफरोख्त में किसी प्रकार का ऊंचा नीचा भाव नहीं—वह तो सबके लिए समान होता है—चाहे वह गुणी हो या गुणहीन हो, चाहे वह श्रीमान हो अथवा सम्पत्ति रहित हो। यमराज का व्यवहार सब के लिए समान होता है। क्षेमेन्द्र के ये श्लोक शान्ति के पोसक हैं।

चित्र-प्रकरण

नीचे के पद्य की विशेषता देखिये। जिस पद के द्वारा प्रश्न पूछा गया है, उसीमें उसका समाधान भी किया है। अत एक ही पद मे प्रश्न तथा उत्तर दोनों विद्यमान हैं। —

का काली ? का मधुरा ? का शीतलवाहिनी गङ्गा ?
कं संजघान कृष्णः ? कं बलवन्तं न बाधते शीतम् ?

प्रश्न—का काली ? अर्थात् ससार मे सबसे काली वस्तु क्या है।

उत्तर—काकाली (काक + आली) अर्थात् कौओं की पंक्ति। ठीक है, कौओं की पाँत से बढकर काली चीज और क्या हो सकती है।

पश्न—का मधुरा ? मधुर चीज क्या है ?

उत्तर—कामधुरा (काम + धुरा) कामदेव की धुरा।

प्रश्न—का शीतल वाहिनी गङ्गा ? शीतल वाहनी गङ्गा कौन है ?

उत्तर—काशी-तल वाहिनी गङ्गा अर्थात् काशी के समीप मे बहने वाली गङ्गा ही सब जगह से अधिक शीतल है।

प्रश्न—क सजघान (मारा) कृष्ण ? कृष्णचन्द्र ने किसको मारा ?

उत्तर—कंसं जघान कृष्ण अर्थात् कृष्ण ने कस को मारा।

प्रश्न—क बलवन्त न बाधते शीतम्? किस बलवान् को जाड़ा नहीं सताता।

उत्तर भी उसी पद मे मिलता है—कंबलवन्तं अर्थात् कंबल वाले को। वास्तव मे यह उत्तर बिलकुल ठीक है। जाडेमे सूती कपड़ों का गुजर कहाँ। कितना ही सूती कपडा पहनिए, जाडा बिना लगे न रहेगा। कम्बलवालो के पास शीत किसी प्रकार नहीं फटकता—उन्हें नही सताता। संस्कृत भाषा की विलक्षणता के कारण एक ही पद के द्वारा प्रश्न तथा उत्तर दोनों का काम चलता है।

इस पहेली को तो जरा बूझिए।

> एकचक्षुर्न काकोऽयं बिलमिच्छन्न पन्नगः।
> क्षीयते वर्धते चैव न समुद्रो न चन्द्रमाः॥

एक आँख वाली चीज है; परन्तु कौआ नहीं है। (यह प्रसिद्ध है कि कौवे को एक ही आँख होती। दूसरी आँख को देकर, काकरूपधारी जयन्त ने अपने किये हुए पाप का प्रायश्चित्त किया था) यह बिल ढूँढता है, पर साँप नहीं है। घटता बढ़ता भी; पर न तो समुद्र है, न चन्द्रमा है। कहिए यह कौन सी चीज है। वह है—सुई।

क्या ही विचित्र पहेली है—

> सदारिमध्यापि न वैरियुक्ता नितान्तरक्तापि सितैव नित्यम्।
> यथोक्तवादिन्यपि नैव दूती का नाम कान्तेति निवेदयाशु॥

पति कहता है—वह सदा अरिमध्या (शत्रुओं के बीच में रहने वाली) है, परन्तु वैरियों से युक्त नहीं है। अत्यन्त लाल होने पर भी नित्य सित (सफेद) है। यथोक्त (ठीक) कहने वाली है, पर दूती नहीं है। हे कान्ते ! उसका नाम शीघ्र कहो ? बारीकी तो यह है कि उस चीज का नाम श्लोक में ही श्लिष्ट शब्दों में दिया है। वह चीज रिमध्या है ('रि' उसके बीच में है) सिता है—'सकार' युक्त है। कान्ता है—ककारअन्त में है। उत्तर—सारिका। वाह ! क्याही मनोरञ्जक तथा साथ ही-साथ विचित्र पहेली है !

क्याही अच्छी अपह्नुति है—

काले वारिधराणामपतितया नैव शक्यते स्थातुम् ।
उत्कण्ठितासि तरले!नहि नहि सखि! पिच्छलः पन्थाः ॥

नायिका कह रही है कि वर्षा काल में (अपतितया) बिना गिरे हुए कोई नहीं खड़ा रह सकता। सखी ने 'अपतितया' का अर्थ यह लगाया कि बिना पति के वर्षा में कोई स्त्री नहीं ठहर सकती, अत पूछ रही है कि ऐ तरले ! चञ्चल चित्त वाली ! क्या तुम पति के लिये उत्कठित हो ? तब नायिका बात को छिपाती है कि नहीं नहीं जी, रास्ता पंकिल है—चारों ओर रास्ते में कीचड़ है अत कोई गिरे बिना नहीं रह सकता। बात इस तरह छिपाई जाती है ? क्या सफाइ है !

कोई भक्त भगवान् से प्रार्थना कर रहा है। प्रार्थना है तो बहुत अच्छी है, परन्तु जिन शब्दों के द्वारा वह प्रकट की गई है, उन्हें समझने में जरा देर लगेगी। इसे 'कूट' समझना चाहिए—

अधुना मधुकरपतिना गिलितोऽप्यपकारदंपतौ येन ।
त्रातः स पालयेन्मां विगतविकारो विनायको लक्ष्म्याः ॥

इस पद्य मे 'अधुना' 'अपकार' तथा 'विगत विकार' शब्द साधारण अर्थ मे न प्रयुक्त होकर, विशेष अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए रखे गए हैं। अधुना का अर्थ है—जिसमें 'धु' अक्षर न हो ऐसा। 'मधुकरपति' शब्द से 'धु' निकाल डालिए जो बचे उसे रखिये अर्थात मकरपति—ग्राह। उसी प्रकार 'अपकार' शब्द का अर्थ है-पकाररहित। 'दपतौ' से पकार निकाल डालनेपर 'दन्ती' हाथी—बच रहेगा। 'विगतविकार' का तात्पर्य है 'वि' पद से रहित। 'विनायक' पद से 'वि' निकाल देने पर 'नायक' पद अवशिष्ट रहेगा। अब इस पद्य का सीधा सान्वय अर्थ यह है—येन मकर पतिना गलित दन्ती त्रात, स लक्ष्म्या नायक मा पालयेत्, अर्थात् जिसने मकरपति—ग्राहराज—के द्वारा निगले गए, दन्ता की रक्षा की—गजेन्द्र को ग्राह के मुख से छुडाया—वही लक्ष्मी के पति भगवान् विष्णु मेरा पालन करें। यह पद्य संस्कृत के दृष्टकूट के प्रकार को दिखलाने के लिए यहाँ दिया गया है।

गणेश की प्रशंसा मे यह श्लोक है—

लम्बोदर तव चरणावादरतो यो न पूजयति ।
स भवति विश्वामित्रो दुर्वासा गोतमश्चेति ॥

हे गणेश जी, जो पुरुष आप के चरणों को आदर से नहीं पूजता, वह विश्वामित्र (संसार का अमित्र शत्रु) हो जाता है; दुर्वासा (मलिन वस्त्र वाला) तथा गोतम (पक्का बैल) बन

जाता है। विश्वामित्र आदि पदों का क्या ही अच्छा श्लिष्ट अर्थ किया गया है।

अन्तर्लापिका का संस्कृत में उदाहरण देखिये।

> रवेः कवेः किं समरस्य सारं
> कृषेर्भयं किं किमुशन्ति भृङ्गाः।
> खलाद् भयं विष्णुपदं च केषां
> भागीरथीतीरसमाश्रितानाम् ॥

इस श्लोक के तीन पादों में प्रश्न किये गये हैं, और सब का उत्तर चौथे पाद में क्रमशः दिया गया है। रवि का सार क्या है? 'भा' = कान्ति। कवि का सार क्या है? गी = वाणी। युद्ध का सार क्या है? रथी = योद्धा। खेती को किससे डर है? ईति अर्थात् अनावृष्टि वगैरह आठ उत्पातों से। भौंरे क्या चाहते हैं?—रस। खल से भय किनको है? आश्रितानाम्—सेवकों को। विष्णु का पद किसे मिलता है? भागीरथी तीर समाश्रितानाम् = गंगा तट वासियों को। बड़ी साफ अन्तर्लापिका है।

> हरेरम्बरं रञ्जयन्तीह का वा?
> सुशीलं पतिं भर्त्सयन्तीह का वा?
> सुखस्नानहेतुः? स्वदम्भेन नष्टा?
> हरिद्रा दरिद्रा सरिद्रावणश्रीः।

प्रश्नों का उत्तर अन्तिम चरण में क्रम से है।

विष्णु के वस्त्र को कौन रँगती है ? = हरिद्रा (हल्दी)। विष्णु तो पीताम्बर हैं। हलदी उनके कपड़े को रंग कर पीला बना देती है। सुशील पति को कौन डाँट बताती है ? दरिद्रा। दरिद्रा लक्ष्मी की बड़ी बहिन है। अपने पति को वह सदा झिड़कती रहती है। आनन्द पूर्वक स्नान किससे होता है ? सरित्-नदी से। अपने गर्व से कौन नष्ट हो गई ? रावणश्री—रावण की लक्ष्मी। अन्तिम चरण का अनुप्रासमय पदविन्यास अवलोकनीय है।

बहिर्लापिका का क्या ही मनोहर श्लोक है—

> कामरिरहितामिच्छति भूपः ?
> कामुद्धरयति शूकररूपः ?
> केनाकारि हि मन्मथजननं ?
> केन विभाति हि तरुणीवदनम् ?

इसमें प्रश्न ही केवल हैं। एक ही शब्द में इनका क्रमश: उत्तर होगा। श्लोक का उत्तर है = 'कुंकुमेन'। राजा किसे शत्रु रहित चाहता है ? कुं = पृथ्वी को। शूकर रूप धर कर विष्णु ने किसे उबारा—कुं = पृथ्वी को। काम को किसने पैदा किया ? 'मेन'—कृष्ण ने। स्त्री का मुख किससे शोभित होता है ? कुंकुमेन—कुंकुम से। एक छोटे पद में एक नहीं, चार-चार प्रश्नों का उत्तर कितना सुन्दरता के साथ दिया गया है।

दूती अपनी प्रिय सखी की अवस्था का वर्णन नायक से कर रही है—

यामि विधावभ्युदिते पुनरेष्यामीति यदुदितं भवता।
जानात्युदन्तमेतं नेदं तत्त्वेन मुग्धवधूः॥

सीधा अर्थ यह है कि आप ने कहा है, कि इस समय में जा रहा हूं। 'विधावभ्युदिते पुनरेष्यामि', फिर कभी आऊंगा। इस उदन्त (वृत्तान्त) को वह मुग्धवधू 'इदतत्त्वेन न जानाति'— ठीक नहीं समझती—सच्चा नहीं मानती। कपटी नायक का भला कोई विश्वास करता है। प्रतिज्ञा का भंग करना उसका प्रधान गुण होता है। वह कह कर भी नहीं आता। यह तो है ऊपरी अर्थ। भीतरी अर्थ जानने के लिये 'उदन्त' तथा 'इदतत्त्व' शब्द का दूसरा अर्थ समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है। उदन्त का अर्थ है उकारान्त। तथा इदन्तत्व का है इकारान्त। नायक के पुनरागमन के लिये काल निर्देश है 'विधावभ्युदिते' पद में। इस 'विधौ' पद को मेरी सखी इकारान्त नहीं मानती है, प्रत्युत उकारान्त समझती है। 'विधौ' इकारान्त 'विधि' के सप्तमीका एक वचन है तथा उकारान्त 'विधु' का। संस्कृत में दोनों का—विधु तथा विधि का एक ही रूप होगा—विधौ। नायिका इसे उकारान्त विधु का रूप समझती है, इकारान्त 'विधि' का नहीं। विधुका अर्थ होता है चन्द्रमा, विधि का अर्थ है भाग्य। पद्य का आशय है कि चन्द्रमा के उदय होने पर आप चले आइएगा। मेरे भाग्य के उदय की प्रतीक्षा न कीजिएगा। वाह! क्याही बारीकी के साथ एक छोटे से पद्य में नायिका ने अपने मनोगत भावों को व्यक्त किया है।

'सर्वस्य द्वे' सुमतिकुमती सम्पदापत्तिहेतू
'एको गोत्रे' स प्रभवति पुमान् यः कुटुम्बं बिभर्ति।

'वृद्धो यूना' सह परिचयात्त्यज्यते कामिनीभिः
'स्त्री पुंवच्च' भवति यदा तद्धि गेहं विनष्टम् ॥

सब किसी को दो बुद्धि होती हैं। अच्छी मति से सम्पत्ति आती है कुमति से आपत्ति।

जहाँ सुमति तहँ सम्पति नाना।
जहाँ कुमति तहँ विपति निधाना ॥

अपने कुल में सबसे श्रेष्ठ अद्वितीय वही होता है, जो कुटुम्ब का पालन करता है। युवक से परिचय होने पर कामिनियाँ बूढ़ों को छोड़ देती है। जब स्त्री पुरुष का अधिकार पा लेती है, तो वह घर शीघ्र नष्ट हो जाता है। श्लोक में बारीकी यह है कि प्रत्येक चरण के आरम्भ में पाणिनि के सूत्र है—'सर्वस्य द्वे','एको गोत्रे', 'वृद्धो यूना'—'स्त्री पुंवच्च' और इन्हीं की पूर्ति आगे चल कर की गई है।

प्रसिद्ध विद्वान बालंभट्ट से किसी ने उनके दुराचारी पुत्र के विषय में पूछा, तो उन्हों ने उत्तर दिया—

पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति । परिपन्थं च तिष्ठति ।
व्रतेन जीर्यति । अधुना । न वशः । पूर्ववत्स नः ।

यह पक्षी, मछली तथा मृग को मारता है; बुरे रास्ते पर चलता है, नंगे लुच्चों का साथ करता है। पहले के समान वह आज कल मेरे वश में नहीं है। श्लोक पाणिनि के छः सूत्रों से बना है (जैसा श्लोक में विभाग कर दिया है)। केवल सूत्रों के साथ रखने से ही पूरा श्लोक तैयार हो गया है।

जब बालभट्ट का पुत्र सदाचारी हो गया, तब पण्डितजी ने पूछे जाने पर इस प्रकार उत्तर दिया होगा—

पुत्रः पुम्भोऽधिकं । शीलं । धर्मं चरति । रक्षति ।
वशं गतः । पितुर्येच । पश्चात् । कृत्याः । तदर्हति ॥

मेरा लडका मनुष्यों से अधिक शील वाला बन गया है। वह धर्म का आचरण करता है। क्योंकिवह पिता के वश में है , अत पहले के भी कार्यों को योग्यता से सम्पादन कर रहा है। यह श्लोक भी पाणिनि की अष्टाध्यायी के दस सूत्रों को जोड कर बनाया गया है। इस प्रकार पाणिनि के केवल सूत्रों को उचित स्थान पर रख कर जोड देन से ही सुन्दर उपदेशमय पद्यो की रचना की जा सकती है।

आयातो वनमाली गृहपतिरालि ! समायातः ।
स्मर सखि ! पाणिनिसूत्रं 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' ॥

कोई गोपी अपनी सखी से कह रही है—ऐ सखि ! वनमाली कृष्णचन्द्र आ रहे हैं और उनके पीछे हमारे घर के मालिक भी (अपने पति की ओर सकेत है) आ गए। बतलाओ मुझे, इस सकट के समय मे में क्या करूँ ? वनमाली का सम्मान करू अथवा गृहपति का सत्कार करूँ ? सखी थी बडी चतुर। यदि वह स्पष्ट शब्दों मे उत्तर देती, तो मामला खुल जाता, अत उसने छिपे-ही छिपे शब्दों मे कहा—पाणिनि का वह सूत्र तो याद करो—विप्रतिषेधे पर कार्यम्। सूत्र का अर्थ है कि तुल्य बल विरोध मे

पर कार्य होता है, पूर्व कार्य नहीं। गृहपति पीछे आया है ; अतः वह कृष्ण की अपेक्षा 'पर' है। अत उसका सम्मान करो, वनमाली की ओर इस समय मत झुको, नहीं तो छिपा रहस्य प्रकट हो जायगा, बना बनाया खेल बिगड़ जायगा, सारा गुड़ गोबर हो जायगा। वाह, कितने अच्छे ढंग से सखी ने अपना काम निकाल लिया। आप तो जानते होंगे कि पाणिनि का सूत्र दुहरा रही है, इधर पर रहस्य को छिपाने की सुन्दर युक्ति बतला दी। यह सुन्दर पद्य 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' की पूर्ति है।

एक विचित्र सूक्ति सुनिए—

काचं मणिं काञ्चनमेकसूत्रे ग्रथ्नन्ति नार्यो न विचित्रमेतत्।
अशेषवित् पाणिनिरेकसूत्रे श्वानं युवानं मघवानमाह॥

स्त्रियाँ एक ही डोरे में काँच, मणि तथा सुवर्ण गूँथ रही थीं। इस विषमता को देखकर किसी को बड़ा आश्चर्य हुआ—भला काँच जैसे तुच्छ पदार्थ को सुवर्ण जैसे बहुमूल्य वस्तु के साथ गूथना चाहिये। इस पर कोई विद्वान कह रहे हैं कि इसमें आश्चर्य की कौनसी बात है। व्याकरण शास्त्र के प्रवर्तक, समस्त शास्त्र जानने वाले पाणिनि महाराज ने भी तो एक ही सूत्र में श्वन् (कुत्ता), युवन् (जवान) तथा मघवन् (इन्द्र) शब्दों को पिरोया है। भला देव राज इन्द्र को कुत्ते के साथ एक जगह एक सूत्र में रखना चाहिए, परन्तु पाणिनि बाबा ने इस साम्यवैषम्य का बिना विचार किए इन तीनों को 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' सूत्र में एक साथ रख दिया है। तब इन स्त्रियों का यह आचरण विस्मयकारक नहीं है। इस पद्य में तो केवल पाणिनि के सूत्र में असंगति दिखलाई गई है, परन्तु

हमारे गोसाईंजी का विचार है कि यह बुद्धिपूर्वक है—सोच समझकर पाणिनि ने मघवान् को श्वान के साथ रखा है, क्योंकि इन्द्र का आचरण कुत्ते की तरह तुच्छ है, वह सदा दूसरों का अहित सोचा करता है। उसी भाँति नये जवान का स्वभाव भी छिछोरेपन से भरा रहता है। 'सरिस स्वान मघवान जुवानू'। तीनों को साथ रखना, मतलब से खाली नहीं है। यह पद्य कवि की अलोकसामान्य प्रतिभा का प्रतिपादक है।

दारिद्र्य-पद्धति

किसी विद्वान्, परन्तु दरिद्र कवि की यह उक्ति, कितनी मर्मस्पर्शिनी है—

भूयिष्ठं द्रविणात्मजं जनयितुं लिप्सावता चेतसा
नार्यः पंच मया क्रमेण कुलजाः काले समुद्वाहिताः।
सद्विद्या कविता विदेशवसतिः सेवा तथाभ्यर्थना
दैवेन प्रतिबन्धकेन युगपद् वन्ध्याः समस्ताः कृताः॥

कवि कहता है कि अभिलाषा के वश होकर धनरूपी पुत्र पैदा करने के लिये मैंने समुचित समय पर क्रम से पाँच स्त्रियों के साथ विवाह किया। पाँचो स्त्रियों के नाम ये हैं—(१) अच्छी विद्या,(२) कविता, (३) परदेश वसति, (४) सेवा तथा (५) याचना; परन्तु प्रतिकूल भाग्य ने सबको एकही साथ बाँझ बना दिया। आशय है कि मैंने खूब विद्या का अध्ययन किया। कविता भी की, परदेश में वास किया, दूसरों की सेवा की, कुछ माँगा भी; परन्तु मेरे भाग्य से एक भी टका नहीं मिला। टक-टकाते ही रह गये; परन्तु टका कहाँ!

दारिद्र्य! शोचामि भवन्तमेवमस्मच्छरीरे सुहृदित्युषित्वा।
विपन्नदेहे मयि मन्दभाग्ये ममेति चिन्ता क्व गमिष्यसि त्वम्॥

कोई दरिद्र कह रहा है कि हे दारिद्र्य! मुझे तुम्हारा बड़ा सोच है। तुम इतने दिनों तक मित्र के समान मेरे शरीर में रहने आये हो। चिन्ता मुझे यही है कि जब मन्द भाग्यवाले मेरे प्राण पखेरू

उड जॉयगे,—शरीर नष्ट हो जायगा—तब तुम कहाँ जाओगे। क्याही अच्छी करुणोत्पादक उक्ति है!

कोई निर्धन कवि अपनी दशा को राजा की दशा से कितने सुन्दर श्लिष्ट शब्दों मे तुलना कर रहा है—

पृथुकार्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देव !
विलसत्करेणुगहनं सम्प्रति सममावयोः सदनम् ॥

हे राजन् मेरी और आपकी दशा तो इस समय बराबर है। आपके घर मे (पृथु + कार्तस्वर) बडे-बडे सोने के पात्र-बर्तन-हैं और मेरा घर भी भूखे (पृथुक + आर्तस्वर) लडकों के कातर स्वर का पात्र—जगह—है। आपके सब परिजन (भूषित) गहने पहने हैं और मेरा सब परिवार (भूषित) केवल पृथ्वी पर सोने वाला है। आपके दरवाजे पर (करेणु) हाथियों के यूथ शोभित हैं और मेरा घर भी (विलसत्क) चूहों की रेणु से भरपूर है। अत मेरे-जैसे निर्धन व्यक्ति तथा आप-जैसे धनाढ्य पुरुष की दशा मे तनिक भी अन्तर नहीं है—दोनों समान हैं। इसमे श्लेपालङ्कार की छटा देखने ही लायक है। 'पृथुकार्तस्वर','भूषित' तथा 'विलसत्करेणु'—ये इन तीनों शब्दों मे सभङ्ग श्लेप है। पृथुकार्तस्वर का एक अर्थ होगा—सोने (कार्तस्वर) के बडे बर्तन। दूसरा अर्थ है—[पृथुक—(बच्चों) + आर्तस्वर] छोटे छोटे बच्चों के करुण स्वर। भूषित के भी दो अर्थ हैं—अलंकृत तथा (भू + उषित) जमीन पर रहने वाल। विलसत्करेणु का अर्थ है—विलसित होने वाले हाथी तथा बिल मे रहने वाले [बिल + सत्क + रेणु] चूहों के द्वारा लाई गई धूल। यह श्लेप की ही विशेषता है कि निर्धन और धनाढ्य एक श्रेणी से रखे जाते हैं—एक साथ ही उनका वर्णन हो पाया है। आशय यह है

कि हमारे घर में नन्हें-नन्हें बच्चे भोजन के लिये चिल्ला रहे है, घर के सब लोग जमीन पर ही सोकर बसर कर रहे है और घर मे चूहों ने इतनी धूल घर खोदकर ला रखी है, कि वह बीहड़ उजाड़-सा बन गया है। अतः मेरे ऊपर कृपा कीजिये। मेरी दशा सुधारिये।

द्विगुरपि सद्वन्दोऽहं मद्गेहे नित्यहमव्ययीभावः।
तत्पुरुष! कर्म धारय येनाहं स्यां बहुव्रीहिः॥

कोई कवि राजा के दरबार मे गया। वहाँ जाकर उसने अपनी निर्धनावस्था का वर्णन इस विचित्र श्लोक के द्वारा किया—हे राजन्! मैं द्विगु हूं—(द्वौ गावौ यस्य सः) मेरे घर पर दो बैल है। सद्वन्द्वोऽहम्—मैं द्वन्द्व हू—मुझे भार्या का भी पोषण करना पड़ता है; परन्तु मेरे घर मे है क्या? अव्यीभाव-खर्च नदारद। कुछ हो, तब न खर्च किया जाय। यहाँ तो हजरत के यहाँ सोलहों दण्ड एकादशी है; इसलिए हे पुरुष-वीर पुरुष! तत् कर्म धारय आप वह काम कीजिए, जिससे मैं बहुव्रीहि—बहुत धान वाला हो जाऊं। धान से मेरा घर भर दीजिए, जिससे मेरे घर अब खाने-पीने की कमी न रहे। इस श्लोक की विशेषता यह है, कि मुद्रालङ्कार के द्वारा छहो प्रसिद्ध समासों के नाम इसमें आगए है। यह श्लोक बहुत पुराना है; क्योंकि राजशेखर ने काव्यमीमांसा मे इसे उद्धृत किया है।

सेवक की दुर्दशा देखकर विल्हण कवि मृग से पूछ रहे है कि तुम्हारी यह मस्ती किस तपस्या का फल है—

यद् वक्त्रं मुहुरीक्षसे न धनिनां, ब्रूषे न चाटून् मृषा
नैषां गर्ववचः शृणोषि, न पुनः प्रत्याशया धावसि।

काले बालतृणानि खादसि सुखं निद्रासि निद्रागमे
तन्मे ब्रूहि कुरङ्ग ! कुत्र भवता किं नाम तप्तं तपः ॥
(सदुक्तिकर्णामृत-५।४२।२)

हे कुरङ्ग जी महाराज, आप धनिक सेठों के मुँह को बारम्बार नही देखते हो। झूठी खुशामद की बातें भी नहीं बोलते हो। उनके गर्वभरे अहङ्कारी वचनों को नहीं सुनते हो और न आशा की दृष्टि से उनके यहाँ दौड़ लगाया करते हो। तुम भूख लगने पर ठीक समय पर हरे हरे कोमल तृणों को चरते हो और नींद आने पर सुख की नींद सोते हो तो मुझे ठीक ठीक बता दो कि तुमने किस तीर्थ मे और कितने दिनों तक कौन सी तपस्या तपी है जिसके कारण तुम इतने भाग्यवान् हो और सुखपूर्वक जीवन बिता रहे हो। कुरङ्ग के प्रति यह अन्योक्ति परमुखापेक्षी व्यक्तियों की दुर्दशा का कितना सच्चा चित्र व्यग्य प्रस्तुत कर रही है। सचमुच ऐसे व्यक्तियों की तुलना मे जङ्गल मे स्वच्छन्द विचरण करने वाला हरिण कितना भाग्यशाली है।

सचमुच सेवक का प्रत्येक कार्य फल की दृष्टि से विरोधाभास ही प्रतीत होता है—

प्रणमत्युन्नतिहेतोर्जीवितहेतोर्विमुञ्चति प्राणान्
दुःखीयति सुखहेतोः को मूढः सेवकादन्यः ॥

सेवक की मूर्खता पर जरा गौर कीजिये। यह उन्नति ऊपर उठने के लिए नीचे झुकता है, प्रणाम करता है। जीवन के लिए अपने प्राणों को छोडता है। युद्ध मे लड़ने वाले सिपाही के

जीवन को देखिए—चाहता तो वह है संसार में जीना, परन्तु इसके लिए वह लड़ाई के मैदान में अपना सर कटाता है। चाहता है सुख भोगना, परन्तु उसके लिए नाना प्रकार के क्लेश उठाता है। सच है ऐसे विरुद्ध आचरण करने वाले सेवक से बढ़ कर ससार में क्या कोई मूढ़ हो सकता है? नही, कोई नहीं। चाकर से बढ़कर मूर्ख दुनिया में कोई दूसरा नही होता!

किसी दरिद्र की उक्ति, दुःख को सम्बोधन कर कैसी अच्छी है—

आसीत्ताम्रमयं शरीरमधुना सौवर्णवर्णं गतं
मुक्ताहारलताश्रुबिन्दुनिवहैर्निःस्वस्य मे कल्पिता।
स्वल्पं स्वल्पमनल्पकल्पमधुना दीर्घं वयः कल्पितं
स्वामिन् दुःख! भवत्प्रसादवशतः किं किं न लब्धं मया॥

हे स्वामी दुःख! पहले मेरा शरीर ताम्रमय था (मैं खाकर लाल हो गया था) अब वह बिलकुल सोने का हो गया है (चेहरा पीला पड़ गया है)। आपने आँसुओ के समूह से मेरे गले में मोतियों का हार पहनाया है। कम उम्रवाला (बूढ़ा) करदिया है। अतः हे प्रभो! आपकी दया से मुझे क्या-क्या नहीं मिला? धनहीन भी मुझे सोने-जैसा पीला शरीर तथा मोती का हार मिल गया। अब क्या चाहिये? उक्ति नितान्त सुन्दर है।

किसी ने क्या ही अच्छा कहा है—

एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोरिति यो बभाषे।
नूनं न दृष्टं कविनापि तेन दारिद्र्यदोषो गुणराशिनाशी॥

कवि कालिदास ने लिखा है, कि गुण समुदाय में एक दोष छिप जाता है, जैसे चन्द्र के किरणों में कलंक। इस पर कोई कह रहा है कि जिसने ऊपर की बात कही है, उसे इस बात का ध्यान नहीं था कि एक ही दरिद्रता रूपी दोष करोड़ों गुणों को नष्ट करने वाला है। ठीक है! दरिद्र होने पर विद्वान् को भी भला कोई पूछता है।

उत्तिष्ठ क्षणमेकमुद्वह सखे ! दारिद्र्यभारं मम
श्रान्तस्तावदहं चिरान्मरणजं सेवे त्वदीयं सुखम्।
इत्युक्तं धनवर्जितस्य वचनं श्रुत्वा श्मशाने शवो
दारिद्र्यान्मरणं वरं वरमिति ज्ञात्वैव तूर्ष्णीं स्थितः॥

कोई दरिद्र घूमते-घूमते किसी श्मशान में जा निकला। वहाँ उसने एक मुर्दे को पड़े देखा। वह दरिद्र उसी मुर्दे को सम्बोधन कर कहने लगा—हे भैया! जरा थोड़ी देर के लिए उठो। मैं थक गया हूं। दरिद्रता के मेरे बोझ को जरा सँभालो। मैं मरने से उत्पन्न होने वाले तेरे सुख का तो अनुभव कर लूँ। तुम तो बड़े चैन से सो रहे हो, इधर मैं दरिद्रता के बोझ से दबा जा रहा हूँ। जरा उठो, इस बोझ को तो लो। दरिद्र के इन वचनों को जब मुर्दे ने सुना, तो चुपचाप पड़ा ही रह गया, कुछ बोला तक नहीं; क्योंकि उसने झटपट समझ लिया कि दरिद्रता से मरना ही भला है। ठीक है, दरिद्रता के दुःख सहने की अपेक्षा मर जाना अधिक अच्छा है शूद्रक ने ठीक ही कहा है— दारिद्र्यं सोच्छ्वासं मरणम्। वस्तुतत्त्व कवि का यह श्लोक कितना सुन्दर तथा तथ्यपूर्ण है।

दरिद्र का अपमान पद पद पर हुआ करता है। राज दरबार मे अपमानित किसी निर्धन कवि की यह उक्ति कितनी चोज-भरी है—

भस्माच्छन्नतनुः कदर्यशयनात् शूली कदन्नाशनात्
तैलाभाववशात् सदा शिरसि मे केशा जटात्वं गताः।
गौरेकः स च नैव लाङ्गलवहो भार्या गृहे चण्डिका
प्राप्य त्वत्त इहार्धचन्द्रमधुना प्राप्तं पदं शाम्भवम् ॥

कोई कविजी राज दरबार से अर्धचन्द्र देकर (गरदनिया देकर) निकाले गए। इसपर बेचारे कह रहे हैं—बुरे स्थान पर सोने से मेरा शरीर भस्म से—धूल से—पुता हुआ है, बुरे अन्न खाने से मैं शूली हूँ—पेट में शूल का रोग हो गया है, तैल न मिलने के कारण मेरे सर के बाल जटा हो गए हैं, घर मे एक बैल है वह भी इतना बूढा कि हल जोतने के भी काबिल नहीं, गृहिणीजी हैं साक्षात् चण्डिका। एक चीज की कमी थी, वह भी आज इस दरबार मे मुझे मिल गई। वह है अर्धचन्द्र (चन्द्र का टुकडा तथा गरदनियाँ देकर निकालना)। बस, अब मुझे शिवजी का पद प्राप्त हो गया। इस अभाव की पूर्ति कर आपने बडी दया की। शिवजी भस्माच्छादित हैं, शूली (त्रिशूल धारण करने वाले) हैं, उनके सिर पर जटाएँ हैं, सवारी के लिए घर मे बूढा बैल है, भार्या स्वयं चण्डिका है, सिर है अर्धचन्द्र। मेरे पास तो सब कुछ पहले से था। आज गरदनियाँ देकर निकाले जाने पर अर्ध चन्द्र भी मिल गया। बस, मैं अब बम भोला बाबा भोलानाथ बन गया। उक्ति कितनी युक्ति युक्त है—कितनी मनोरञ्जक है।

एक दरिद्र वैयाकरण किसी राजा के दरवाजे पर गये। अपनी दुःख-भरी राम कहानी कह सुनाई। राजा ने संस्कृत में कहा—'दीयताम्' परन्तु द्वार पर बैठा हुआ सण्ड-मुसंड घना दरबान लगा वैयाकरणजी की पीठ पर डण्डा बरसाने। बेचारे पण्डितजी तलमला गये और लगे राजा से पूछने—

सर्वज्ञ त्वं वदसि बहुधा दीयतां दीयतां भो
दाधातूनां भवति सदृशं रूपमेवं चतुर्णाम्।
द्वौ दानार्थौ भवत इतरौ पालने खण्डने च
नो जानीमः कथयतु भवान् कस्य वायं प्रयोगः॥

हे राजन! तुम तो सर्वज्ञ हो। तुम 'दीयतां दीयतां भोः' कहा करते हो। यह रूप संस्कृत भाषा में चार धातुओं का होता है। उन में से दो धातु दानार्थक हैं, (दाण् दाने तथा डुदाञ् दाने) तीसरे का अर्थ पालन (देङ् रक्षणे) करना है और चौथे का खण्डन करना—मारना, नाश करना (दाऽवखण्डने)। कृपया यह तो बतलाइये कि श्रीमान् ने किस धातु का यह 'दीयतां' प्रयोग किया है। पण्डितजी ने समझा था कि यह रूप 'दा' धातु का होगा—राजा का आशय होगा कि कुछ दो; परन्तु यहाँ तो घूँसे बरसने लगे। अतः पण्डितजी महाराज को बाध्य होकर पूछना पड़ रहा है कि यह किस धातु का प्रयोग है? बेचारे पण्डितजी को बड़ा कष्ट हुआ।

प्रबल वर्षा होने पर अपनी दुरावस्था का वर्णन कोई कवि राजा के सामने कर रहा है—

पीठाः कच्छपवत् तरन्ति सलिले सन्मार्जनी मीनवत्
दर्वी सर्पविचेष्टितानि कुरुते सन्त्रासयन्ती शिशून् ।
शूर्पार्द्धावृतमस्तका च गृहिणी भित्ति. प्रपातोन्मुखो
रात्रौ पूर्णतडागसन्निभमभूत् राजन्! मदीयं गृहम् ॥

हे राजन्! मेरे घर के पीढे पानी मे कछुवे की तरह तैरते हैं झाडू मछली की भाँति तैरती है। कलछी साँप की चेष्टाओं को क्रिया करती है, जिससे छोटे बच्चे डर जाते हैं। हमारी गृहिणी सूप के आधे टुकडे से अपने को वर्षा से बचाने के लिये अपने माथे को ढक लेती है। दिवाल अब गिरती है तब गिरती है। अत रात के समय वृष्टि होने पर मेरा घर भरपूर तालाब की तरह बन जाता है। कविजी ने अपनी दीन दशा का वर्णन बडी सफाइ के साथ किया है। यह तो दरिद्रता की पराकाष्ठा है, गरीबी की अन्तिम सीमा है। अच्छा हुआ, भगवान की दया से कविजी तो बच गये, नहीं तो वे भी उस तालाब में बह जाते।

किसी दरिद्र गृहस्थ के घर मे चोरी करने के लिये घुसने वाले चोर की दशा देखिये—

वासः खण्डमिदं प्रयच्छ ननु वा स्वाङ्के गृहाणार्भकं
रिक्तं भूतलमत्र नाथ! भवत. पृष्ठे पलालोच्चयः।
दम्पत्योरिति जल्पितं निशि यदा शुश्राव चौरस्तदा
लब्धं कर्पटमन्यतस्तदुपरि क्षिप्त्वा रुदन् निर्गतः ॥

पत्नी पति से कह रही है—हे स्वामिन्! कपडे का यह टुकड़ा मुझे (ओढने के लिये) दो, नहीं तो इस बच्चे को अपनी गोदी

में लो। जाड़े से ठिठुर रही हूं। जहाँ में सोई हूँ, वह स्थान बिल्कुल खाली है, परन्तु तुम्हारे पीठ तर तो पुआल है। रात के समय दम्पति के इस कथन को जब चोर ने सुना, तो उसने दूसरी जगह से मिले हुए कपड़े को उनके ऊपर फेंक कर रोता हुआ घर के बाहर चला गया। बेचारा चोर तो वहाँ गया था चोरी करने के वास्ते, परन्तु उस गरीब के घर तो फाके मस्ती थी—वहाँ रखा ही क्या था, कि वे हजरत चुराते। वहाँ तो पत्नी को न तो ओढ़ने को कपड़ा था और न बिछान को पुआल—जाड़े के मारे ठिठुर कर छुहारा हो रही थी। अत सदय होकर चोर को उसके ऊपर चुराया हुआ कपड़ा फेंक जाना पड़ा। बेचारे को लेने का देना पड़ा। गरीबी का कितना दर्दनाक नजारा है—दरिद्रता की कितनी कारुण्यमयी मूर्ति है। यह पद्य वर्णन की विशदता के कारण दिल पर गहरी चोट कर रहा है।

दरिद्र परिवार की दीन हीन दशा का एक करुणा जनक दृश्य देखिए—

क्षुत्क्षामाः शिशवः शवा इव भृशं मन्दादरा बान्धवा
लिप्ता जर्जरकर्करी जतुलवैर्नोमा तथा बाधते।
गेहिन्याः स्फुटितांशुकं घटयितुं कृत्वा सकाकुस्मितं
कुप्यन्ती प्रतिवेशिनी प्रतिमुहुः सूचीं यथा याचिता॥

छोटे बच्चे भूख के मारे दुबले पतले ऐसे लगते हैं मानों मृतक हों। बन्धुजनों ने आदर करना कम कर दिया है। चलनी के समान सैकड़ों छेद वाला घड़ा लाह के टुकड़ों से लीप दिया

गया है जिससे पानी चूकर गिर न जाय। इस दीन दशा को देखकर वह दरिद्र गृहस्वामी कह रहा है कि इन चीजों से मुझे तनिक भी क्लेश नहीं हो रहा है, परन्तु अपने पडोसी के स्त्री का बर्ताव तो मुझे बेतरह खल रहा है। बात यह हुई कि मेरी स्त्री ने जो चोथड़ों से अपना दिन काटती है अपनी फटी धोती को सीने के लिए पडोसिनी से सूई माँगी, जिस पर वह बरस पडी और मुसुकुराती हुई फबतियाँ सुनाने लगी। यह दृश्य मुझसे देखा नहीं गया और इस बर्ताव से मुझे इतना क्लेश हुआ कि मैं शब्दो से वर्णन नहीं कर सकता। कहिए कितनी दीनदशा का दर्दनाक दृश्य है। माँगी तो सूई जैसी नाचीज, लेकिन बदले मे मिली गुस्साभरीं फबतियाँ !!!

दरिद्र कुटुम्ब का एक और दृश्य देखिए—

> तस्मिन्नेव गृहोदरे रसवती, तत्रैव सा कण्डनी
> तत्रोपस्कराणि तत्र शिशवस्तत्रैव वासः स्वयम्।
> सर्वं सोढवतोऽपि दुःस्थगृहिणः किं ब्रूमहे तां दशा-
> मद्यश्वो निजनिष्यमाण गृहिणी तत्रैव यत् कुन्थति॥

दरिद्र के पास एक थी छोटीसी कोठरी। उसीमे चौका जलता था, वहाँ रखी हुई ओखली, सरो-सामान वहाँ पर रखे हुए पडे थे बच्चे-कच्चे वहीं लोट पोट करते थे, घरके मालिक अपने भी स्वय रहते थे। इन सब असुविधाओं को तो उस दरिद्र गृहस्थ ने किसी प्रकार सह सहा लिया, परन्तु अब मैं उसकी दीन दशा की क्या कहूँ। बेचारे की आज या कल बच्चा जनने वाली

मालकिन भी वहीं बेठका चूँथ रही है—काँख-कूँख रही है !!! बेचारे की विपत्ति का अब ओर-छोर नहीं। कहाँ जाय बच्चे, और कहाँ रहे अपन आप। यह कवि की कल्पना का विलास नहीं है, वस्तुत तथ्य का चित्रण है। आज भी भारत के गाँवों मे यह दृश्य अनदेखा अनसुना नहीं है। संस्कृत कविता मे जनजीवन के चित्रण का अभाव बतलाने वाले आलोचक पुगव ऐसे यथार्थ चित्रण के विषय मे क्या कहेंगे ? वेनतेय नामक किसी प्राचीन, परन्तु अज्ञात कवि की यही अकेली कविता आज उपलब्ध है। (सदुक्ति कर्णामृत ४।४८। ४, पृ० ३०६)

दरिद्र की गृहिणी की दशा को तो देखिए—

सक्तून् शोचति संप्लुतान्, प्रतिकरोत्याक्रन्दतो बालकान्
प्रत्युत्सिञ्चति कर्परेण सलिलं, शय्यातृणं रक्षति।
दत्त्वा मूर्ध्नि निशीर्णशूर्पशकलं जीर्णे गृहे व्याकुला
किं तद् यन्न करोति दुःस्थगृहिणी देवे भृशं वर्षति॥

भादो का महीना है। मूसलधार पानी बरस रहा है। बेचारी दरिद्र गृहिणी बडी विषम स्थिति समय मे काट रही है। सातू पानी से लथ पथ हो रहा है। उनके विषय मे वह सोच कर रही है। बालक चिल्ला रहे हैं जिन्हें वह शान्त कर रही है। घर मे पानी भर आया है। वह उसे फूटे घडे के टुकड से उलीच रही है। सेज के लिए बिछी घास-फूस को वह बचा रही है कि कहीं भीग न जायँ। माथे पर टूटे सूप के टुकड़ा का रखकर वह सब कार्य कर रही है। पुराने-टूटे घर मे वह नितान्त

व्याकुल होकर अपने परिवार की रक्षा के निमित्त क्या क्या नहीं कर रही है बिचारी। वर्षा मे दरिद्र का घर सचमुच हमारे हृदय मे दया का उद्रेक उत्पन्न करने में समर्थ होता है। सदुक्ति-कर्णामृत (४। ४६। ५, पृ० ३१०) मे उद्धृत प्राचीन कवि लङ्क-दत्त का यह पद्य दरिद्र के घर का सच्चा चित्र प्रस्तुत कर रहा है।

किसी दरिद्र के पास एक ही बुड्ढा बैल था। और वह इतना बुड्ढा था कि दरवाजे पर सो गया। अब उठाये जाने की रीति को तो देखिए—

> लग्नः शृंगयुगे गृही सतनयो वृद्धौ गुरू पार्श्वयोः
> पुच्छाग्रे गृहिणी खुरेषु शिशवो लग्ना वधूः कम्बले।
> एकः शीर्णजरद्गवो विधिवशात् सर्वस्वभूतो गृहे
> सर्वेणैव कुटुम्बकेन रुदता सुप्तः समुत्थाप्यते॥

दरिद्र के घर का सर्वस्वभूत पूराधन-एक ही बूढ़ा बैल था। वह चलते-चलते कहीं बैठ गया। अब तो उठाये उठता ही नहीं। घर का मालिक उसकी एक सींग पकड़ कर उठा रहा है, बेटा दूसरी सींग को। बूढ़े माँ बाप उसके दोनों अगल-बगल पकड़े हुए हैं। पूछ के अगले भाग को मालकिन, खुरों को बच्चे, पतोहू गलकम्बल को पकड़ कर उठा रही है। गर्ज यह है कि सारा का सारा कुटुम्ब उठाने में लगा है परन्तु बैल उठने का नाम नहीं लेता। इससे पूरा कुटुम्ब ही रो रहा है। दरिद्रता का कितना नगा चित्र यह पद्य दिखा रहा है।

याचक

मरने पर भारी होने का कारण किसी कवि ने क्या ही बढ़िया खोज निकाला है—

गुरुतामुपयाति यन्मृतः पुरुषस्तद्विदितं मयाऽधुना ।
ननु लाघवहेतुरर्थिता न मृते तिष्ठति सा मनागपि ॥

कवि यह कह रहा है कि मरने पर जो पुरुष भारी बन जाता है इसका कारण मैं जान गया। माँगना (याचकता) ही लघुता (हल्केपन तथा छोटेपन) का कारण है और मर जाने पर वह कुछ भी नहीं रहती। हल्केपन का कारण न होने से पुरुष भारी हो जाता है।

याचक की लघुता का क्या ही अच्छा वर्णन है—

तृणादपि लघुस्तूलस्तूलादपि हि याचकः ।
वायुना किं न नीतोऽसौ मामयं प्रार्थयिष्यति ॥

तृण से रुई हल्की होती है और रुई से हल्का माँगने वाला होता है। रुई जैसी हल्की चीजों को उडाने वाला भी वायु याचक को इसलिये नहीं उडा ले जाता, कि कहीं यह मुझसे न कुछ माँगने लगे।

माँगना कितना निन्दनीय है—

दक्षिणाशाप्रवृत्तस्य प्रसारितकरस्य च ।
तेजस्तेजस्विनोऽर्कस्य हीयतेऽन्यस्य का कथा ॥

इस श्लोक में 'दक्षिणाशा' तथा 'कर' शब्दों में श्लेष है। दक्षिणाशा का अर्थ है दक्षिण दिशा तथा दक्षिणा पाने की आशा। 'कर' शब्द के हाथ तथा किरण अर्थ बिलकुल प्रसिद्ध है। इसलिए इस पद्य का अर्थ है—जब जाडे में दक्षिण दिशा में जाने वाले, किरणों को फैलाने वाले, तेजस्वी सूर्य का भी तेज कम हो जाता है, तब दक्षिणा की आशा से अपने हाथ फैलानेवाले याचक की बात क्या कही जाय? उसका तेज तो अवश्य ही कम हो जाता होगा। इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं।

पंडितराज की यह उक्ति कितनी बढ़िया है—

स्वार्थं धनानि धनिकात् प्रतिगृह्णतो य-
दास्यं भजेन्मलिनतां किमिदं विचित्रम्।
गृह्णन् परार्थमपि वारिनिधेः पयोऽपि
मेघोऽयमेति सकलोऽपि च कालिमानम्॥

जो याचक धनिक से अपने लिये धन ले रहा है, उसका मुँह यदि काला हो जाय, तो विचित्रता क्या है? समुद्र से दूसरे के लिये भी केवल जल लेने वाले मेघ का सम्पूर्ण शरीर काला हो जाता है। याचक का मुँह ही काला हो, तो क्या आश्चर्य!

भट्ट वाचस्पति की यह उक्ति कैसी अनुपम है—

जनस्थाने भ्रान्तं कनकमृगतृष्णान्धितधिया
वचो वैदेहीति प्रतिपदमुदश्रु प्रलपितम्।
कृता लंकाभर्तुर्वदनपरिपाटीषु घटना
मयाप्तं रामत्वं कुशलवसुता न त्वधिगता॥

जिस प्रकार राम ने कनक मृग के कारण जनस्थान (दण्डकारण्य) में भ्रमण किया, उसी भाँति मैं भी द्रव्य रूपी मृगतृष्णा से अन्धी बुद्धि वाला होकर जनस्थान (देश-देश) में खूब घूमा। जिस प्रकार राम व्याकुल होकर वैदेही कहते थे, उसी भाँति पद-पद पर आँखों में आँसू भरकर मैंने भी वैदेहि (ऐ! दो) कहकर प्रलाप किया। जिस प्रकार राम ने लङ्का के स्वामी रावण के मुख में बाणों की योजना की, उसी भाँति मैंने (का भर्तु) कुत्सित स्वामियों से सदा मेल किया। इस भाँति मैंने रामत्व को प्राप्त किया; परन्तु जैसे कुश लव पुत्रोंवाली जानकी राम को मिल गई, वैसे (कुशल वसुता) कुशलता तथा सम्पत्ति मुझे न मिली। केवल इतना ही अन्तर रह गया, नहीं तो मैं पूरा राम था। कविजी ने राम के समान ही सब काम किये, परन्तु परिणाम बिल्कुल विपरीत ही हुआ। राम को तो (कुश लव-सुता) जानकी-जिनके कुश और लव पुत्र थे—प्राप्त हुई, परन्तु हमारे कविजी को (कुशल—वसुता) तो न कुशलता ही मिली न वसुता धन-की प्राप्ति हुई। बेचारे ने उद्योग तो बहुत किया था; परन्तु क्या करें? अन्त में धोखा हुआ। कुछ मिला नहीं। इस पद्य में सभङ्ग श्लेष की शोभा देखने ही लायक है। यह सूक्ति खूब ही अनोखी है—साथ ही-साथ मर्मस्पर्शिणी भी है!

लक्ष्मी-विलास

कोई कवि लक्ष्मी की चपलता के विषय में कह रहा है—

यद्वदन्ति चपलेत्यपवादं नैव दूषणमिदं कमलायाः।
दूषणं जलनिधेर्हि भवेत्तद् यत् पुराणपुरुषाय ददौ ताम् ॥

लोग कहा करते हैं कि लक्ष्मी चंचल है; परन्तु यह उसका दोष नहीं है। यह तो उसके बाप समुद्र का दोष है कि उसने लक्ष्मी का विवाह पुराण पुरुष (बूढ़े आदमी तथा विष्णु) के साथ कर दिया। बूढ़े की भार्या तो चंचल हुआ ही करती है, इधर-उधर घूमा ही करती है। रहीम का भी यह दोहा इसी आशय का है—

> लक्ष्मी थिर न रहीम कहि, यह जानत सब कोय।
> पुरुष पुरातन की बधू, क्यों न चंचला होय॥

सरस्वती को किसी ने क्या ही अच्छा कहा है—

श्वश्रूं विना वृत्तिरिहि स्वतंत्रा प्रायः स्नुषाणामपवादहेतुः।
यद् वाणि! लोके रमया विहीनां सतीमपि त्वामसतीं वदन्ति॥

सास के बिना पतोहू स्वतंत्र हो जाया करती हैं, इसी से उनकी शिकायत होती है। हे सरस्वती! तुम अपनी सास लक्ष्मी के साथ नहीं रहती। अतः सती होने पर भी लोग तुम्हें असती—अपतिव्रता—कहा करते हैं। क्याही बढ़िया उक्ति है! जिनके पास सरस्वती का निवास होता है, वहाँ लक्ष्मी कभी फटकती भी नहीं। लक्ष्मी श्वश्रू-स्थानीया है और सरस्वती वधूकल्पा। अतः जिस प्रकार सास के बिना अकेले रहने वाली वधू की लोक में निन्दा

होती है, उसी प्रकार लक्ष्मी के बिना वाणी की निन्दा होती है। उसे लोग असती कहकर पुकारते हैं।

लक्ष्मी विषरूप है। जरा इसका कारण सुनिये—

हालाहलं नैव विषं विषं रमा
जनाः परं व्यत्ययमत्र मन्वते।
निपीय जागर्ति सुखेन तं शिवः
स्पृशन्निमां मुह्यति निद्रया हरिः॥

हलाहल विष नहीं है, लक्ष्मी ही विष है; परन्तु साधारण मनुष्य उलटाही समझते हैं—हलाहल ही को विष मानते हैं। लक्ष्मी को नहीं। हलाहल को पीकर भी शिवजी सुख पूर्वक जागते हैं; परन्तु लक्ष्मी को केवल छूतेही विष्णु भगवान् निद्रित हो जाते हैं। लक्ष्मी ही में विष जैसी नशा करने की शक्ति है। हलाहल में नहीं। क्या ही अच्छा समर्थन है।

लक्ष्मी की प्रसन्नता तथा कोप का परिणाम श्लिष्ट पदों से क्याही अच्छा कहा गया है.—

असौ भाग्यं धत्ते परमसुखभोगास्पदमयं
विचित्रं तद्गेहं भवति पृथुकार्तस्वरमयम्।
निविष्टः पर्यङ्के कलयति स कान्तारतरणं
प्रसादं कोपं वा जननि! भवती यत्र तनुते॥

हे माता लक्ष्मी! जिस पर तुम प्रसन्न होती हो, वह भाग्यशाली होता है; अत्यन्त सुख और भोगों को पाता है; उसका

घर सोने से भरपूर होता है तरह तरह के चित्रों से सुशोभित होता है, पलग पर बैठा हुआ वह पुरुष स्त्री के साथ सभोग किया करता है, परन्तु जिस पर तुम कोप करती हो, वह अभागा अत्यन्त दु खों का पात्र होता है। उसका चित्र रहित घर लड़कों के करुणामय रोदन से भरपूर हो जाता है। कुटिया मे बैठकर वह बीहड जगलों को पार करने के विषय मे सोचता है। ऐसी उसकी बुरी दशा हो जाती है। धनिक तथा दरिद्र की श्लिष्ट पदों मे क्या ही अच्छी समानता दिखलाई गई है।

सुवर्णं बहु यस्यास्ति तस्य न स्यात्कथं मदः।
नामसाम्यादहो यस्य धत्तूरोऽपि मदप्रदः॥

धनी को मद क्यो नहीं हो ? जिसके पास बहुत सा धन है, उसे नशा (गर्व) क्यों नहीं होगा ? सोने के नाम की समता से धतूर भी नशा करने वाला होता है। सोना तथा धतूर का नाम एकही है। जब नाम एक होने से धतूर इतना नशा करता है, तो जिसके पास सोना है, उसे नशा क्यों न होगा।

महाकवि बिहारी का इसी आशय का यह बहुत बढ़िया दोहा है—

कनक कनक ते सौगुनी, मादकता अधिकाय।
वे खाये बौरात हैं, ये पाये बौराय॥

धन की प्रशसा मे क्या ही बढ़िया श्लोक है—

दुन्दुभिस्तु सुतरामचेतनस्तन्मुखादपि धनं धनं धनम्।
इत्थमेव निनदः प्रवर्तते किं पुनर्यदि जनः सचेतनः॥

नगाड़ा अत्यन्त जडपदार्थ है परन्तु उसके मुँह से भी धन धन (धम धम) की आवाज़ आती है—वह भी धन धन की इच्छा किया करता है। अचेतन की यह दशा है। यदि सचेतन मनुष्य हो, तो उसकी बात क्या कही जाय। वह तो धन की ही बात करेगा। क्या ही बढ़िया श्लोक है।

धन कौन सा सार्थक है? सुनिये—

> लभेयदयुतं धनं तदधनं धनं यद्यपि
> लभेत नियुतं धनं निधनमेव तज्जायते।
> तथा धनपरार्धकं तदपि भावहीनात्मकं
> यदक्षरपदद्वयान्तगतं धनं तद् धनम्॥

यदि किसी को अयुत (दश सहस्र) धन मिलजाय, तो इससे क्या हुआ ('अ' से युक्त होने पर धन 'अधन' ही बन जाता है)। तात्पर्य दस हजार रुपया होने पर भी मनुष्य धन हीन ही रहता है। यदि नियुत (दस लाख) धन मिल जाय तो भी वह सब 'निधन' ही है ('नि' से युक्त धन 'निधन' हो जाता है। निधन = नाश मृत्यु)। यदि परार्ध (सबसे बड़ी संख्या वाला) धन भी मिलजाय, तो वह भी अभाव से ही भरा हुआ होता है ('धन परार्धक'=धनका अन्तिम अर्ध में श्लेष से दो अर्थ हो रहा है। 'ध+न' शब्दका पूर्वार्ध है—ध और परार्ध है न और 'न' पद निषेध तथा अभाव का ही सूचक है)। तात्पर्य है कि अरब खरब द्रव्य हो भी जाय तो इससे क्या होता है? वह भी कभी न कभी नष्ट ही हो जाता है। तब सच्चा धन कौन सा है? उस नित्य (अक्षर) परमात्मा के चरण कमलों

मे लगा हुआ धन ही वास्तव धन है भगवान् के चरणारविन्द मे लगा हुआ प्रेमरूपी धन ही वास्तव धन है। इतर धन नाशवान् है, परन्तु भगवत्प्रेम ही तो अनश्वर है, ('द' तथा 'व' इन दोनों के बीच मे रहने वाले 'धन' अक्षरों से बना हुआ 'धन' शब्द ही वास्तव धन है। 'धन' पद की सिद्धि अन्य प्रकार से नहीं हो सकती)। तात्पर्य है हजार लाखको कौन कहे परार्ध धन भी नाशवान् है। भगवच्चरण का प्रेम ही अनश्वर धन है। श्लोक मे श्लेप का सौन्दर्य देखने योग्य है।

उत्तमर्णधनदानशङ्कया पावकोत्थशिखया हृदिस्थया
देव! दग्धवसना सरस्वती नास्यतो बहिरुपैति लज्जया।

कोई कवि किसी राजा से कह रहा है कि हे देव! धनिक लोग माँगे जाने पर देने के लिये इसलिये कुछ नहीं बोलते कि धन के दान के डर से हृदय मे उठती आग की लपट से सरस्वती के कपडे जल जाते है। अत लज्जा के मारे सरस्वती उनके मुँह से नहीं निकलती, देने के लिये मुँह नहीं खोलती। ठीक है।

या स्वसद्मनि पद्मेऽपि सन्ध्यावधि विजृम्भते।
इन्दिरा मन्दिरेऽन्येषां कथं तिष्ठति सा चिरम्॥

जो लक्ष्मी पद्मरूपी अपने घर मे केवल सन्ध्या तक रहती है, वह औरों के घर में बहुत दिनों तक कैसे ठहरे? लक्ष्मी की चञ्चलता का क्या ही अच्छा कारण दिया है।

लक्ष्मि! क्षमस्व वचनीयमिदं मयोक्त—
मन्धीभवन्ति पुरुषास्त्वदुपासनेन।

नो चेत् कथं कमलपत्रविशालनेत्रो
नारायणः स्वपिति पन्नगभोगतल्पे ॥

कवि कह रहा है कि हे लक्ष्मी ! मेरी इस बात को क्षमा करो कि पुरुष लोग तुम्हारी उपासना से अन्धे हो जाते हैं। यदि ऐसा नहीं होता, तो क्या कमलदल के समान बड़े बड़े आँख वाले, भगवान् नारायण साँप के बिछौने पर सोते। वे अन्धे हैं, तभी तो ऐसी भयानक जगह पर सोया करते हैं। धनिकों के अन्धेपन का अच्छा दृष्टान्त है।

लक्ष्मी ब्राह्मणों से द्वेष करती है। इसका कारण सुन लीजिए

नाथे कृतपदघातश्चुलुकिततातः सपत्निका-सेवी ।
इति दोषादिव रोषाद् माधवयोषा द्विजं त्यजति ।

माधव की भार्या—लक्ष्मी—क्रुद्ध होकर ब्राह्मणों को छोड़ देती है। द्विजों मे एक नहीं, तीन दोष विद्यमान हैं। पहला दोष यह है, कि उसने लक्ष्मी के पति विष्णु को लात मारा था। विष्णु भगवान् की छाती पर लात जमाने वाले भृगु ब्राह्मण थे। अगस्त्य लक्ष्मी के पिता समुद्र को पी गये—सो भी एक ही चिल्लू मे, यह ठहरा दूसरा दोष। द्विज लोग लक्ष्मी की सौत—सरस्वती—की सेवा करते हैं, यह हुआ तीसरा दोष। इन्हीं अपराधों के कारण लक्ष्मी द्विजों से क्रुद्ध होकर उन्हें छोड़ चली जाती है। इसी कारण बेचारे ब्राह्मण देवता सदा गरीबी मे अपने दिन काटते हैं। कारण खूब मजे के हैं। इस आर्या के पूर्वार्द्ध मे 'त' का तथा उत्तरार्ध मे 'प' का अनुप्रास देखने ही लायक है।

लक्ष्मी के आने तथा चले जाने पर गृहस्थों की कैसी दशा हो जाती है, जरा देखिये—

यावदेव कमला कृपान्विता तावदेव भवनं वधूः सुखम्।
पौरुषान्विततनुर्जनादरो नास्ति चेत् प्रथमवर्ण-वर्जितम् ॥

कृपा करके जब लक्ष्मी आती है, सब जो जो फल उत्पन्न होते हैं, वे ही फल उनके चले जाने पर भी होते हैं। अन्तर इतना ही होता है कि उनमे पहला अक्षर नहीं होता। लक्ष्मी की दया होने पर भवन होता है, वधू मिलती है तथा सुख होता है, परन्तु लक्ष्मी के चले जाने पर वन मे वास करना होता है, धू—सब चीजें भारभूत हो जाती हैं—कष्टकर बन जाती हैं, खम्—आकाश—सब ही शून्य हो जाता है। उसी प्रकार दया के दिनों मे मनुष्य पौरुष—पुरुषार्थ—से युक्त होता है तथा जन मे—लोक मे—आदर पाता है, बुरे दिन आने पर रुषान्विततनु—शरीर क्रोध पूर्ण होता है तथा नादर—कोई आदर नहीं करता—दर दर मारा फिरता है। भले तथा बुरे दिनों की दशा का परिचय कितनी सुन्दरता तथा सत्यता के साथ इस छोटे से पद्य में दिया गया है।

कृपण का सच्चा स्वरूप निरखिये—

दृढतर-निबद्ध-मुष्टेः कोपनिषण्णस्य सहजमलिनस्य।
कृपणस्य कृपाणस्य च केवलमाकारतो भेदः ॥

कृपण तथा कृपाण—तलवार—मे बड़ी समानता देख पड़ती है। कृपण पुरुष अपनी मुट्ठी को कसकर बाँधे रहता है—कभी

खोलता ही नहीं—सूम न कभी दान देता है, न खर्च करता है, सदा मूठी बाँधे रहता है। तलवार को हाथ में लेने के समय उसकी मूठ कसकर बँधी रहती है। दोनों कोष-निपण्ण रहते हैं—सूम अपने खजाने के घर में चोरी के डर से बैठा रहता है; तलवार म्यान में रखी जाती है। दोनों स्वभाव से मलिन—विपण्ण वदन तथा कृष्ण-वर्ण—होते हैं। इन तीन बातों में सूम और तलवार बराबर है—अन्तर केवल आकार में होता है। सूम मनुष्य है—नरदेह धारी है, परन्तु तलवार निर्जीव है। आशय है कि कृपण प्राय कृपाण सा क्रूर है। 'आकारत' में श्लेष है—इसका एक अर्थ है आकार अक्षर के कारण। कृपण तथा कृपाण में भेद यही है कि एक में अकार है तथा दूसरे में आकार। श्लेषालङ्कार ने इस पद्य में जान डाल दी है। उक्ति खूब सुन्दर है।

कलियुगी धनिक का वर्णन है—

दूरादर्थिनमाकलय्य भजते सद्यो निरूपाक्षतां
मङ्गे किंच निरोचनत्वमथ संस्थाने नृसिंहाकृतिम्।
पाण्डित्योक्तिषु वक्रतुण्डरचनं दाने त्वपर्णात्मता-
मेकः पञ्चसुरात्मकः प्रभुरहो भाग्यैः कलौ लभ्यते॥

याचक को दूर से ही आता देख कर वह तुरन्त विरूपाक्ष बन जाता है; अर्थात् आँखें तरेरने लगता है, तथा भाललोचन शिव होता है। माघ में बैठने पर निरोचन (निरक्त तथा सूर्य) हो जाता है। स्वयं बैठता है, तो नरसिंह की तरह उसकी आकृति है। पण्डिताई के वचन कहने के समय वह वक्रतुण्ड है—मुँह टेढ़ा कर बोलता है तथा गणेशजी का रूप धरता है। दान देने के

समय वह अपर्णात्मक है—अर्थात् दान एक पत्ते का भी नहीं देता (अ—नहीं, पर्ण—पत्ता) तथा वह साक्षात् अपर्णा—पार्वती है। इस प्रकार जब बड़े भाग्य का उदय होता है, तब कलियुग मे ऐसा मालिक मिलता है जो अकेले पाँच देवताओं के समान हो— जो भिन्न भिन्न अवस्थाओं में विभिन्न देवता का रूप धर लेता हो— याचक देख कर विरूपाक्ष—शिव, साथ में विरोचन—सूर्य, बैठने मे नरसिंह, बोलन में गणेश, देने मे अपर्णा। वह अकेला होता हुआ भी पॉच देवताओं की मूर्ति धारण करता है। ईश्वर न करे ऐसे सूम मालिक से कभी काम पड़े।

—❋—

भूपाल-प्रशस्ति

यथा यथा भूपयशो निवर्धते
सितां त्रिलोकीमिव कर्तुमुद्यतम् ।
तथा तथा मे हृदयं विदूयते
प्रियालकालीधवलत्वशङ्कया ॥

कोई कवि किसी राजा की स्तुति कर रहा है कि जैसे-जैसे आपका यश मानों तीनों लोकों को सफेद बनाने की नियत से बढ रहा है, त्यों त्यों मेरे मनमे शङ्का हो रही है, कि कहीं मेरी प्रियतमा के काले बाल सफेद न हो जायें ! कवि लोग यश का सफेद तथा प्रताप का लाल होना वर्णन करते हैं। ससार मे सर्वत्र व्याप्त होनेवाली कीर्ति का क्या ही सुन्दर वर्णन है !

राजा भोज की प्रशसा मे किसी कवि का क्या ही अच्छा पद्य है —

नीरक्षीरे गृहीत्वा निखिलखगततीर्याति नालीकजन्मा
तक्रं धृत्वा तु सर्वानटति जलनिधींश्चक्रपाणिर्मुकुन्दः ।
सर्वानुत्तुङ्गशैलान् दहति पशुपतिः फालनेत्रेण पश्यन्
व्याप्ता त्वत्कीर्तिकान्ता त्रिजगति नृपते भोजराज क्षितीन्द्र ॥

हे राजन् ! आपकी कीर्ति चारों ओर फैल गई है। उसने तीनों लोकों की समस्त वस्तुओं को सफेद कर डाला है। जब ब्रह्मा, विष्णु, महेश को भ्रम हो गया है, तो साधारण जनो की क्या कथा? बेचारे ब्रह्मा दूध और पानी लेकर समस्त पक्षिगणा के पास जाते हैं, ताकि वे अपने हस को पहचान सकें। यश की धवलिमा ने ससार के सब पक्षियों को सफेद बना डाला है। सब पक्षी हस ही मालूम पड़ रहे हैं। अत ब्रह्मा पानी से मिले दूध को लेकर

इसी अभिप्राय से घूम रहे हैं कि उनका नीरक्षीर-विवेकी हंस मिल जाय। क्षीरसागर को ढूढने के लिये विष्णु मट्ठा लेकर घूम रहे हैं। सब जलाशय सफेद होने से क्षीरसागर के समान प्रतीत हो रहे हैं। मट्ठा लेकर विष्णु भगवान् के घूमने का आशय यह है कि मट्ठा डालने से जो फट जाय वही दूध का सागर होगा। शिवजी कैलास पर जाने के लिये ऊँचे पर्वतों को अपने नेत्र से जला रहे हैं। सब पर्वत श्वेत हो गये हैं अवश्य; परन्तु शिवजी के तीसरे नयन के उघारने पर भी जो बच जाय, वही उनका निवासशील कैलास होगा। वाह री भ्रान्ति!

निद्रद्राजशिरामणे! तुलयितुं धात्रा त्वदीयं यशः
कैलासं च निरीक्ष्य तत्र लघुतां निक्षिप्तवान् पूर्तये।
उक्षाणं तदुपर्युमासहचरं तन्मूर्ध्नि गंगाजलं
तस्याग्रे फणिपुङ्गवं तदुपरि स्फारं सुधादीधितिम्॥

कवि कहता है कि हे राजन्! ब्रह्मा ने तुम्हारे यश को कैलास के साथ तौलना चाहा; परन्तु उसे बहुत ही हल्का जानकर उस पर उज्ज्वल रंग के वृषभ को रक्खा। उस पर भी कैलास हल्का बना रहा, तब धवल मूर्ति शिव को रक्खा। उस पर भी लघुता दूर करने के लिए उनके शिर पर सफ़ेद गंगाजल और शेषनाग को रक्खा। सबसे ऊपर विकसित चन्द्रिका को रक्खा। तब वहीं जाकर यह कैलास तौल में पूरा निकला।

कवि की यह उक्ति क्या ही अनूठी है—

आकर्ण्य भूपाल! यशस्त्वदीयं निधूनयन्तीह न के शिरांसि।
विश्वंभराभङ्गभयेन धात्रा नाकारि कर्णौ भुजगेश्वरस्य॥

हे राजन ! तुम्हारे यश को सुनकर जो सिर न हिलाता हो, ऐसा ससार में कौन है ? सब लोग कीर्ति को सुन उसे उत्तम जान सिर हिलाते है । यही कारण है, कि ब्रह्मा ने पृथ्वी के चकना-चूर हो जाने के डर से शेषनाग के कान नहीं बनाये नहीं तो पाताल लोक मे पहुँचे हुये यश को सुनकर सिर हिलाने पर पृथ्वी का पता न लगता । सापों को कान नहीं होते । अत वे चक्षु श्रवा कहलाते है । कवि की कल्पना क्या ही अनूठी है ! हिन्दी मे इसी भाव का यह दोहा खूब प्रसिद्ध है—

विधिना यह जिय जानि कै, शेषहिं दियो न कान ।
धरा मेरु सब डोलते, तानसेन की तान ॥

त्वत्कीर्तिव्रततिः समीरपदवीमासाद्य लोकत्रयं
मञ्चं व्याप्य चिरं बभार कलिका नक्षत्ररूपेण याः ।
तासा प्रस्फुटमेकमिन्दुकुसुमं त्रैलोक्यमादीपयन्
नो जाने निकुचासु तासु भविता सर्वासु कीदृक् फलम् ॥

हे राजन् ! तुम्हारी कीर्ति लता ने हवा का सहारा पाकर, त्रिलोकी रूप मच को प्राप्त कर, ताराओं के रूप मे कलियों को बहुत दिनों तक धारण किया था । उनमे से केवल एक इन्दुरूपी फूल खिलकर सारे ससार को प्रकाशित कर रहा है । न मालूम, जब सब कलियाँ खिल जायँगी, तब क्या दशा होगी ? क्याही अच्छी उक्ति है ! अनूठी कल्पना इसे कहते है !

कवि की कल्पना क्या ही अच्छी है—

त्वद्यशोजलधौ भूप ! निमज्जनभयादिव ।
सूर्येन्दुबिन्दुमिषतो धत्ते कुम्भद्वयं नभः ॥

हे राजन्! आकाश डरा करता है, कि कहीं आपके यश के समुद्र में डूब न जाऊँ। मानों इसी कारण से तैरने के लिये चन्द्रमा और सूर्य के रूप में सदा दो घड़ों को धारण कर रहा है।

कृत्वा मेरुमुलूखलं रघुपते! वृन्देन दिग्योषितां
स्वर्गङ्गामुसलेन शालय इव त्वत्कीर्तयः कण्डिताः।
तासां राशिरसौ तुषारशिखरी तारागणास्तत्कणाः
प्रोद्यत्पूर्णसुधांशुबिम्बमसृणज्योत्स्नाश्च तत्पांसवः॥

हे रामचन्द्र! दिशारूपी स्त्रियोंने मेरु को ओखल, तथा आकाश गङ्गा को मूसल बनाकर, आपकी कीर्ति को धान के समान खूब छाँटा। उसकी राशि यह हिमाच्छन्न श्वेत हिमालय है। नक्षत्रों का समूह उसकी कणिकायें हैं तथा निकलते हुये पूर्ण चन्द्रमा की छिटकी चन्द्रिका उसकी धूलि है। रामचन्द्र के सारे संसार में व्याप्त होने वाले यश को कवि ने क्या ही विचित्र ढंग से वर्णन किया है!

नीचे का श्लोक उत्कृष्ट कविता का बहुत ही अच्छा नमूना है—

लग्नं रागहृताङ्ग्या सुदृढमिह ययैवासियष्ट्यारिकण्ठे
मातङ्गानामपीहोपरि परपुरुषैर्या च दृष्टा पतन्ती।
तत्सक्तोऽयं न किञ्चिद् गणयति विदितं तेऽस्तु तेनास्मि दत्ता
भृत्येभ्यः श्रीनियोगाद् गदितुमिति गतेवाम्बुधिं यस्य कीर्तिः॥

लक्ष्मी राजा की कीर्ति के द्वारा अपने पिता समुद्र के पास यह सन्देश भेजती है, कि मेरा पति मुझे कुछ भी नहीं समझता, क्योंकि यह तलवार रूपी ऐसी कुलटा नायिका से प्रेम कर रहा है, जो

अत्यन्त प्रेम से युक्त होकर शत्रुओं के कण्ठ मे दृढतर लग जाती है और जो दिन दहाडे सबके सामने कामी पुरुषो के ऊपर गिरा करती है, अत उसने मुझे अपने नोकरों को दे दिया है—मुझसे उसका प्रेम बिल्कुल हट गया है। इसे आप जान रखिये। भाव यह है कि राजा युद्ध-व्यसनी है, सदा युद्ध व्यापार ही मे उसका मन लगता है। उसकी तलवार शत्रुओं के गले को काट गिराती है और लडाई मे हाथियों के ऊपर गिरकर उन्हें मार डालती है। उसे समय नहीं है, कि राज काज देखे अत मन्त्रियों के ऊपर उसे छोड दिया है। यही सन्देशा राजलक्ष्मी अपने बाप के पास कीर्ति के मुख से भेज रही है—समुद्र तक फैले हुये राजा के यश का क्या ही चमत्कारिक वर्णन है—कवि की कल्पना कैसी सुचारु रूप से झलक रही है।

धाराधीश ! धरामहेन्द्रगणनाकौतूहली यामयं
वेधास्त्वद्गणनां चकार खटिकाखण्डेन रेखा दिवि।
सैवेयं त्रिदशापगा समभवत्त्वत्तुल्यभूमीधरा-
भावात्त्यजति स्म सोऽयमवनीपीठे तुषाराचलः॥

कवि भोज की प्रशसा कर रहा है, कि राजन्! ब्रह्मा ने पृथ्वी पर इन्द्र के समान विख्यात राजाओं की गणना करना चाहा। अत आकाश मे खडिये के टुकडे से आपकी गणना की रेखा खींच दिया—वही आकाश गङ्गा बन गई और आपके समान राजा न मिलने के कारण ब्रह्मा ने बाकी टुकडे को पृथ्वी पर छोड़ दिया है, वही यह शुभ्र हिमालय है। आशय है, कि आप पृथ्वी के भूपतियों मे सर्वश्रेष्ठ हैं।

शक्तिद्वयपुटे भूप ! यशोऽब्धौ तव रोदसी।
मन्ये तदुद्भवं मुक्ताफलं शीतांशुमण्डलम् ॥

कवि कहता है, कि राजन् ! आपके यश समुद्र मे पृथ्वी ओर आकाश शुक्ति के दोनों भाग है और चन्द्रमण्डल उस शुक्ति का पैदा हुआ मोती है। क्या ही विचित्र सूक्ति है !

कवि किसी राजा की स्तुति कर रहा है—

देव ! त्वद्यशसि प्रसर्पति जगल्लक्ष्मीसुधोच्चैःश्रव-
श्चन्द्रैरावणकौस्तुभाः स्थितिमिनामन्यन्त दुग्धाम्बुधौ।
किं त्वेकः पुनरस्ति दूपणकणो यन्नोपयाति भ्रमात्
कृष्णं श्रीः शितिकण्ठमद्रितनया नीलाम्बरं रोहिणी ॥

हे राजन् ! जब आपका यश ससार मे फैला, तो लक्ष्मी, अमृत, उच्चैश्रवा घोड़ा, चन्द्र, ऐरावत तथा कौस्तुभमणि की स्थिति, मानो दूध के समुद्र मे हो गयी ; अर्थात् ये सब सफेद हो गये ; किन्तु एक छोटा दोप है कि भ्रम के मारे लक्ष्मी कृष्ण के पास, पार्वती शिव के पास, रोहिणी बलदेव के पास नहीं आतीं। दुनियाँ ही सफेद हो गई है तो इनकी पहिचान कैसे हो ? जब लक्ष्मी-जैसे लोगों को भ्रम हो गया, तो साधारण जन की क्या कथा ?

युधिष्ठिरोऽसि भीमोऽसि चरितैरर्जुनो भवान्।
प्रज्ञया सहदेवोऽसि वाच्यता नकुलस्य ते ॥

हे राजन् तुम युधिष्ठिर हो ; अर्थात् युद्ध मे सदा स्थिर रहते हो। भीम (भयङ्कर) हो। अपने चरितों से अर्जुन (उज्ज्वल)

हो। बुद्धि मे देवता के समान हो—सहदेव हो और तुम्हारे कुल की कहीं निन्दा नहीं होती—नकुल का अभिधान धारण करते हो। आशय है कि एक ही राजा पाँचों पाण्डवों के बराबर है।

कोई कवि राजा के प्रताप की प्रशंसा कर रहा है—

मार्तण्डमण्डलसमं भवतः प्रतापं
ये वर्णयन्ति नहि ते कवयः प्रवीणाः।
अम्भोनिधौ विलयमेति परं पतंगः
पारं प्रयाति जलधेस्तु तव प्रतापः॥

हे राजन्! जो कवि आपके प्रताप को सूर्य के समान वर्णन करते है, वे चतुर नहीं हैं। कारण यह है कि सूर्य सायंकाल मे समुद्र मे डूब जाता है; परन्तु आपका प्रताप समुद्र के उस पार पहुँच जाता है, बीच ही में डूब नहीं जाता। आशय है कि राजा का प्रताप सब जगह फैला हुआ है।

प्रताप पर किसी की बड़ी अच्छी कल्पना है:—

अब्दैर्वारिजिघृक्षयार्णवगतैः सार्कं व्रजन्ती मुहुः
संसर्गाद् वडवानलस्य समभूदापन्नसत्त्वा तडित्।
मन्ये देव! तया क्रमेण जनितो युष्मत्प्रतापानलो
येनारातिवधूविलोचनजलैः सिक्तोऽपि संवर्धते॥

हे राजन्! आपके शत्रु की नारियाँ पति के मरने से ज्यों-ज्यों अधिक रोती हैं, त्यों-त्यों उनके नेत्र-जल से आपकी प्रतापाग्नि अधिक बढ़ती जा रही है; क्योंकि यह प्रताप बिजली तथा वड़वा-नल के संयोग से उत्पन्न हुआ है। जिस प्रकार बिजली तथा

घाडवाग्नि पानी के संसर्ग से अधिक बढ़ते हैं, उसी प्रकार यदि उनका पुत्र—आपका प्रताप—भी वैरियों की नारियों के नेत्र-जल से बढ़े, तो यह उचित ही है ; आशय है कि शत्रुओं के मारने से राजा का प्रताप दिनों-दिन दूना हो रहा है। बात कितने बढ़िया ढंग से कही गई है।

प्रताप की उग्रता का क्या अच्छा वर्णन है—

शंभुर्मानससन्निधौ सुरधुनीं मूर्ध्ना दधानः स्थितः
श्रीकान्तश्चरणस्थितामपि वहन्नेनां निलीनोऽम्बुधौ ।
मग्नः पङ्करुहे कमण्डलुगतामेनां दधच्चाभिभू-
र्मन्ये वीर ! तव प्रतापदहनं ज्ञात्वोल्बणं भाविनम् ॥

हे वीर ! तुम्हारी भाविनी प्रतापाग्नि अत्यन्त उग्र होगी, यह जानकर गर्मी से बचने के लिए शिव मस्तक पर गंगाजी को धारण करते हुये मानसरोवर के समीप आसन जमाये हैं। पैरों पर लोटती हुई गगा को धारण करने पर भी विष्णु शीतलता के लिये समुद्र मे छिप गये है ; ब्रह्मा भी कमण्डल मे गगा को धारण कर कमल पर छिपे बैठे हैं। तुम्हारी प्रतापाग्नि ने इन देवताओं को बेचैन कर डाला है, तो मानवों की क्या कथा !

श्रीहर्ष ने नल के यश तथा प्रताप का क्या ही विचित्र वर्णन किया:—

तदोजसस्तद्यशसः स्थिताविमौ
वृथेति चित्ते कुरुते यदा यदा ।
तनोति भानोः परिवेषकैतवा-
त्तदा विधिः कुण्डलनां विधोरपि ॥

जब जब ब्रह्मा अपने चित्त मे यह सोचता है कि राजा नल के प्रताप तथा यश दुनिया मे व्याप्त है, तो सूर्य तथा चन्द्रमा की क्या जरूरत है ? सूर्य का कार्य प्रताप कर देगा तथा चन्द्रमा की आह्लादकता और प्रकाश यश से मिल जायगा। अत ससार में सूर्य-चन्द्र के रहने की आवश्यकता नहीं है। तब-तब ब्रह्मा सूर्य तथा चन्द्रमा की परिधि के ब्याज से इनके चारों ओर कुण्डलना (गोलरेखा) बना देता है। किसी व्यर्थ पद को गोलरेखा से घेर देते हैं। सूर्य चन्द्र को भी व्यर्थ जानकर ब्रह्मा इनको गोल रेखा से घेर देता है।

इसी श्लोक का अनुवाद किसी कवि ने किया है :—

याको प्रताप यश लोक प्रकाश हैही।
है ये वृथा करत चित्त जबै जबैही।
धाता प्रभाकर निशाकर के तबैही।
रेखा करै चहुँध मडल ब्याज तैही॥

किसी राजा की बडी अच्छी स्तुति की गई है :—

कीर्तिस्वर्गतरङ्गिणिमिरमितो वैकुण्ठमाप्लावितं
क्षोणीनाथ ! तव प्रतापतपनैः सन्तापितः क्षीरधिः।
इत्येवं दयितायुगेन हरिणा त्वं याचितः स्वाश्रयं
हृत्पद्मं हरये, श्रिये स्वभवनं, कण्ठं गिरे दत्तवान्॥

कोई कवि राजा की स्तुति कर रहा है कि राजन् ! आपकी कीतिरूप आकाश गंगा ने बैकुठ को डुबो दिया है और प्रतापरूपी आग ने क्षीरसागर को गर्म कर दिया है। इस कारण से विष्णु ने

लक्ष्मी तथा सरस्वती के साथ रहने के लिये तुमसे जगह माँगी। बैकुंठ में सरस्वती के लिये जगह नहीं है तथा लक्ष्मी के लिये भी क्षीरसागर में स्थान नहीं है। तब तुमने विष्णु को अपना हृदय, लक्ष्मी को अपना घर, तथा सरस्वती को अपना कंठ रहने के लिये दिया। अर्थात् तुम विद्वान् धनिक तथा भक्त हो।

वेधा वेदनयाश्लिष्टः गोविन्दश्च गदाधरः।
शम्भुः शूली निषादी च देव! केनोपमीयसे॥

कोई कवि राजा की स्तुति कर रहा है कि हे राजन्! तुम्हारी उपमा किसके साथ दीजाय। ब्रह्मा के साथ तुम्हारी समता नहीं हो सकती क्योंकि वेदों के मतों से आश्लिष्ट ब्रह्मा पीडा से आलिंगित (वेदनया+आश्लिष्ट) है। गदाको धारण करने वाले गोविन्द तो रोग (गद+अधर =विधुर) के कारण दुःखी। हैं शूल को धारण करने वाले तथा (विष+आदी) विषको भक्षण करने वाले शिवजी शूल (पीडा) के रोग से विषादी हैं। ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव ही राजा के लिए प्रसिद्ध उपमान हैं— उसकी समता इन्हीं के साथ प्राय दी जाती है, परन्तु इन सबों के रोग पीडित होने के कारण राजा की उपमा इनके साथ क्यों कर दी जाय ? निमित्त ने इस छोटे से छन्द में बडी करामात दिखलाई है। प्रसन्न श्लेष का इससे बढकर मनोरम दृष्टान्त अन्यत्र कहाँ मिल सकता है ?।

सौन्दर्य-प्रशंसा

सुन्दरी नायिका के बनानेवाले पर क्या अच्छी युक्ति है—

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः॥

इस नायिका के बनाने में क्या कान्ति देनेवाला चन्द्रमा ब्रह्मा हो गया या शृङ्गारी कामदेव ने स्वयं इसे बनाया या इसका रचयिता वसन्त मास है। ब्रह्मा ने इसे कभी नहीं बनाया। चन्द्र मदन, बसन्त मे से ही किसी ने बनाया होगा। कारण यह है, कि वेद के अभ्यास से शिथिल, तथा विषय से बिल्कुल पराङ्मुख—हट जाने वाले—ब्रह्मा ऐसे मनोहर रूप को बनाने मे क्या कभी समर्थ हो सकता है ?

कृष्णः केशो दृगेषा झषतनुरधरो मन्दरागं हि धत्ते
सौकर्यं दोष्णि रेजे किल मुखरहिता मध्यमान्ता वलिश्रीः।
रामाग्र्यत्वं वपुः श्रीः प्रथयति यमुनादर्पहृद्रोमवल्ली-
धत्ते जङ्घाभिरामश्रियमिव कलिहृत्पादपद्मं तव श्रीः॥

कविवर ने कैसी युक्ति से लक्ष्मी के अंगों मे दशावतारों का वर्णन किया है। आप कहते हैं कि लक्ष्मी के केश कृष्ण (कालेरंगवाले तथा भगवान श्री कृष्ण) हैं; इनके नेत्र झषतनु (मछली की तरह तथा) मत्स्यरूप हैं, अधर अत्यन्तराग को

धारण कर रहे हैं तथा मन्दराचल को भी उठाये हुए हैं, वाहु मे सौकर्य—सुन्दर हाथ तथा सूकरावतार प्रकाशित हो रहा है, मुखमण्डल मे हरिताचन्द्ररूपता तथा नृसिंह का स्वरूप चमक रही है, वलि श्री-त्रिवलीशोभा तथा बलिदैत्य की राजलक्ष्मी को मध्य (मध्यम भाग कटि प्रदेश तथा वामन) ने प्राप्त कर लिया है। शरीर की शोभा रामाभज-रमणियों में सर्वश्रेष्ठ तथा परशुराम-हो गई है, रोमवल्ली ने यमुना का दर्पचूर्ण कर दिया—ऐसी काली है कि यमुना भी उसे देखकर लज्जित हो जाती है, रोमवल्ली स्वयं बलराम हैं जिन्हों ने अपने हल से खींचकर यमुना का दर्प चूर्ण किया था। लक्ष्मी की जंघा अभिराम शोभा अत्यन्त मनोहर शोभा तथा रामचन्द्र की लक्ष्मी—को धारण कर रही है। हे भगवती ? तुम्हारे पैरों की शोभा कलिहृत् है अर्थात् कलह का नाश कर देती है और स्वयं कल्कि रूप है जिन्होंने कलियुग को नाश कर डाला।

लक्ष्मी का शरीर क्या है ? सम्पूर्ण दश अवतारों का एक अपूर्वसम्मेलन है। कविवर ने भगवती लक्ष्मी के अंगों का वर्णन अतिशय चमत्कारपूर्ण किया है, इस सौन्दर्य स्तवक में अनेक मनोहारिणी कल्पनायें हैं जो अपनो मौलिकता तथा सुन्दरता में अद्वितीय है। इसी स्तवक के कतिपय पद्य पाठकों के सामने रखे जाते हैं।

केश

नायिका के केशों से कैसी अद्भुत शिक्षा मिलती है—

स्नेहं परित्यज्य निपीय धूमं
कान्ताकचा मोक्षपथं प्रयाताः।

नितम्बसङ्गात्पुनरेव बद्धा
अहो दुरन्ता विषयेषु सक्तिः ॥

नायिका के बाल स्नेह (तेल तथा प्रेम) को छोडकर और धूम (सुगन्ध पदार्थ तथा धुआँ) को पीकर मोक्ष को पा गये (छुट गये), परन्तु नितम्ब के साथ से फिर भी बाँधे गये। विषय मे आसक्ति बडी कठिन है—छुट नहीं सकती। भाव है, कि जो पुरुष स्नेह को छोडकर धूम पीता है—योगाभ्यास करता है, वह मोक्ष पा लेता है, परन्तु विषय में पड जाने से फिर वही इस ससार के मायाजाल में फँस जाता है।

केशपाश की उपमा कैसी अच्छी है—

चलत्कामिमनोमीनमादातुं चित्तजन्मनः ।
जालयष्टिरिवाभाति बालावेणी गुणोज्ज्वला ॥

गुणों से उज्ज्वल कान्ता की वेणी (चोटी) चलते हुये कामियों के चित्तरूपी मछली को पकडने के लिये कामदेव की रस्सी से युक्त जाल जैसी मालूम पडती है। निस्सन्देह उपमा ठीक है।

काले बालों पर कैसी कल्पना की गई है —

किंजल्केन व्यपनुदति नो यस्तृषं पद्मखण्ड-
स्त्वत्कान्त्यासौ भवति विफलश्रीरमुं मा मिमीलः ।
एवं वक्तु मधुकरभरः प्रार्थनापूर्वमस्या-
श्चन्द्रभ्रान्त्या मुखमुपगतो न त्वयं केशपाशः ॥

अपने पराग से हमारी प्यास को बुझाने वाला यह कमलों का समूह तुम्हारी कान्ति से शोभा-रहित हो जाता है। इसे बन्द मत

करो। ऐसा कहने के लिये भ्रमर-समूह चन्द्रमा के भ्रम से इस नायिका के मुख के पास आये हैं। ये काले केश नहीं हैं—प्रत्युत उलाहना देने वाले भ्रमरों की पंक्ति है। क्या ही अनूठी कल्पना है!

नायिका की वेणी पर यह सुन्दर उक्ति है—

> एतां नवाम्बुधरकान्तिमुदीक्ष्य वेणीं
> एणीदृशो यदि वदन्ति वदन्तु नाम।
> ब्रूमो वयं मुखसुधाशुसुधाभिलाषात्
> अभ्यागता भुजगिनीं मणिमुद्वहन्ती॥

नायिका की नये मेघों के समान कान्तिवाली इस चीज को देखकर यदि लोग वेणी कहते हैं, तो कहें, परन्तु मैं तो यह कहता हूँ कि मुख रूपी चन्द्रमा के पास अमृत पीने के लोभ से आई हुई मणि धारण करने वाली यह काली नागिन है।

शास्त्रीय विषय को शृंगार के पुट में कितनी सुन्दरता से कवि ने सजोया है—

> तमो द्रव्यं नैल्यात् घटवदिति माने समुचिते
> यदीदं रूपी स्यात् कथमिव नहि स्पार्शनगुणः।
> इतीमं सत्तर्कं शिथिलयितुमन्तर्व्यपसिता:
> तमोवृन्दं धत्ते कचभरमिसपादिन्दुवदना॥

तम को द्रव्य मानने वाले मीमांसकों तथा उसका निषेध करने वाले वैशेषिकों के नोकझोंक का एक सरस दृष्टान्त यहाँ प्रस्तुत किया गया है—

मीमांसक अन्धकार के द्रव्य की सिद्धि अनुमान से करता

है, अनुमान का प्रकार यह है—तम द्रव्य है, नीलगुण से सम्पन्न होने के हेतु, घट के समान। अर्थात् द्रव्य गुण से सम्पन्न होते हैं। 'नीलं तम'—तम में नील गुण की सत्ता है। फलतः तम को द्रव्य होना ही चाहिए—

इसके उत्तर मे वैशेषिक का कथन है—यदि यह रूप से सम्पन्न होता तो इसमें स्पर्श गुण भी होना चाहिए। घट मे रूप है, तो उसमें स्पर्श भी है। उसे हम देख सकते हैं तो उसे छू भी सकते हैं, परन्तु अन्धकार में यह बात कहाँ? उसे हम स्पर्श नहीं कर सकते। फलतः अनुमान मे दोष होने से मीमांसकों का तर्क यथार्थ नहीं है। यही है विषम स्थिति। इस शोभन तर्क को शिथिल करने का निश्चय करने वाली चन्द्रमुखी—सुन्दरी अपने सिर पर लहराने वाले बालों के व्याज से मानों अन्धकार के समूह को धारण करती है अर्थात् उसके काले बाल तमःपुंज है जिसे स्पर्श किया जा सकता है। फलतः तम द्रव्य ही है। यह है कवि जी की प्रतिभा का भव्य विलास। पता नहीं इस कविकी उक्ति से मीमांसकजी कितने प्रसन्न होंगे और इससे अपने पक्ष का समर्थन कितना मानेंगे, परन्तु रसिक-समाज तो इस उक्ति से नितान्त प्रसन्न होगा, क्योंकि यहाँ कविप्रतिभा शास्त्र का भरपूर समर्थन जो कर रही है!

नेत्र

कान तक फैले नेत्रों पर कैसी विचित्र कल्पना है—

अतः परमगम्योऽयं पन्था विश्राम्यतामिति।
प्रत्यक्षियुगलं तस्याः कर्णौ वक्तुमिवागतौ॥

उसके कान दोनो आँखों के पास मानों यह कहने के लिये

आये हैं, कि इसके आगे रास्ता अत्यन्त बीहड़ है। यहीं आराम करो, आगे न जाओ।

आँखों ने क्या ही अच्छी वीरता दिखलाई है:—

निमेषेण घ्नता लोकं कृष्णेन स्निग्धचारुणा।
कर्णान्तं गच्छता तस्या लोचनेनार्जुनायितम् ॥

इस सुन्दरी के नेत्रों ने बड़ी वीरता दिखलाई है। ये काले हैं, चिकने हैं, अत्यन्त सुन्दर हैं। ये कान के अन्त तक फैले हुए हैं। इन्होंने अपने पलकों सेही समग्र संसार को मार डाला है। ये तो महावीर अर्जुन के समान पराक्रम करने वाले हैं—उसी अर्जुन के समान जो कृष्णवर्ण थे, अत्यन्त सुन्दर शरीर वाले थे, जिन्होंने अंगराज कर्ण का नाश (कर्ण + अन्त) कर दिया था और जो एक क्षण में सब संसार को मारने वाले थे। इस प्रकार नेत्र अर्जुन की तरह प्रतापी वीर जान पड़ते हैं। कान तक फैलने वाले तथा एक ही पलक में संसार को वशीभूत करने वाले लोचनों की लीला का क्या ही ललित वर्णन है!

नायिका के नेत्र कुरुक्षेत्र हैं। जरा कारण सुनिये—

अर्जुनः कृष्णसंयुक्तः कर्णं यत्रानुधावति।
तन्नेत्रं तु कुरुक्षेत्रमिति मुग्धे! मृशामहे ॥

कुरुक्षेत्र में कृष्ण के साथ उन्हें अपना सारथी बनाकर पराक्रमी अर्जुन महावीर कर्ण का पीछा करते थे। इसी भाँति नायिका के नेत्र में अर्जुन (उजला भाग) कृष्ण (काले बिन्दु-पुतली) के साथ कर्ण का पीछा कर रहा है—कानों तक फैला हुआ है; अतः कर्णान्तधारी नेत्र वास्तव में कुरुक्षेत्र है। कैसी बढ़िया उक्ति है!

नेत्रों के ऊपर क्या ही अच्छी कल्पना है—

मुखारविन्दोपरिभागसंस्थं नेत्रद्वयं खञ्जनमामनन्ति ।
प्रफुल्लवक्त्राम्बुजपार्श्ववर्ती दलद्वयं भृङ्गयुतं मतं मे ॥

कमल रूपी मुख के ऊपर शोभित होने वाले दोनों नेत्रों को लोग खजन कहा करते है, परन्तु मैं तो यह कहता हू, कि मुख रूपी खिले हुये कमल के समीप मे ये दो पत्ते हैं, जिनपर भौंरे बैठे हुए है। नेत्रों के कृष्णभाग को कवि ने भौंरा ठहराया है और शेषभाग को पत्ता।

सदा हिलते हुए कुण्डलों को क्या ही अच्छा उलाहना दिया गया है —

यत्पूर्वं पवनाग्निशस्त्रसलिलैश्चीर्णं तपो दुश्चरं
तस्यैतत्फलमीदृशं परिणतं यज्जातरूपं वपुः ।
मुग्धापाण्डुकपोलचुम्बनसुखं सङ्गश्च रत्नोत्तमैः
प्राप्तं कुण्डल! वाञ्छसे किमपरं यन्मूढ ! दोलायसे ॥

हे कुण्डल ! पहिले तूने वायु, आग, शस्त्र, जल में दुष्कर तपस्या की। कुण्डल आग मे तपाकर तथा पानी मे बुझाकर तैयार किया जाता है। अत अग्निताप तथा जलसयोग को कवि ने यहाँ तपस्या के रूप मे ग्रहण किया है। अत यही कुण्डल की तपस्या है। उसी तप का फल है, कि तुमने सोने का रूप पाया है, तुम मुग्धा कान्ता के सफेद कपोलों को सदा चुम्बन करने का सुख पा रहे हो और उत्तम रत्नों के साथ रहते हो। हे मूर्ख ! अब अधिक क्या चाहते हो ? जो हिल रहे हो।

कर्णौ सपत्न्यः प्रविशालयेयु-
निशालयेयुर्न कदापि नेत्रे ।
विद्या सदभ्यासवशेन लभ्या
सौजन्यमभ्यासवशादलभ्यम् ॥

नायक की प्रेमाधिकारिणी कोई सहज-सुन्दरी अपनी सपत्नियों की नाजायज हरकत—अनधिकार चेष्टा—की बात कितनी खूबी से इस पद्य मे कह रही है :—

मेरी सपत्नियाँ (सौत) नाना प्रकार के उपायों से अपने कानों को विशाल बना रही है। वे बना सकती हैं; परन्तु मेरे कर्णविश्रान्त नेत्रों की स्पर्धा मे क्या वे अपने नेत्रों को फैलाकर बड़ा बना सकती है ! नहीं, कभी नही। यह तो प्रकृति से विद्रोह है ! विचार तो कीजिए। खूब अभ्यास करने से विद्या तो प्राप्त हो सकती है, परन्तु लाखों बार अभ्यास करने पर भी क्या सुजनता प्राप्त हो सकती है ? बिल्कुल नहीं। कृत्रिमता तथा नैसर्गिकता मे यही तो अन्तर है। एक है बनावटी और दूसरा है स्वाभाविक। सुजनता मानव का जन्मजात गुण है। उसे कृत्रिम उपायों से कभी उत्पन्न नहीं किया जा सकता। इसी तथ्य का प्रकाशन इस शृङ्गारिक वर्णन के प्रसंग मे बड़ी सुन्दरता से किया गया है।

गुप्ता वनेषु विहरन्ति सुहृद्यमीनाः
कस्यापि नो कुवलयेषु दिवा प्रकाशः ।
रात्रौ बिभेति जगदम्ब कुशेशयालिः
कर्णेजपे जयति नेत्रयुगे भवत्याः ॥

नेत्रों का क्या ही श्लिष्ट रमणीय वर्णन है। हे जगदम्ब! ये तुम्हारे नेत्र कानों तक फैले हुए हैं (कर्णेजप), इनके सामने अन्य सुन्दर चीजें बिलकुल छिप गई हैं। सुन्दर रमणीय मछलियाँ पानी में छिप कर दिनों को बिता रही हैं। किसी भी नील कमल की दिन मे चकमकाहट नहीं दिखाई देती। इन नेत्रों के सामने वे दिन में खिलते तक नहीं, कमलों की पंक्ति इन विनयी आँखों के आगे चन्द्रमा से डर रही है। क्यों? इस भय का क्या कारण है? बात यह है कि ये नेत्र कर्णेजप (खल) हैं जिनसे छिप कर रहना कौन नहीं चाहता।

खल के डर से सुहृद्यमीन (सुन्दर योगी लोग) वन मे छिपकर विहार करते है। आँखों के भय से सुन्दर हृद्य (रमणीय) मीन जल में छिपे हुए हैं। सपूर्ण भूमण्डल मे कोई पुरुष प्रकट नहीं होता। दुष्टों के भय से प्रकट होना नहीं होता। वैसे नील कमल विकासत नहीं होते। कुश पर सोने वाले व्रती लोगों की मण्डली जैसे राजा से डरती है उसी भाँति कमल पंक्ति राजा (चन्द्र) से डर रही है। ये नेत्र वास्तव मे खल हैं। आशय यह है कि इन कानों तक फैले नेत्रों की शोभा ने कमल, मीन आदि की शोभा जीत ली गई है। कितने सुन्दर शब्दों मे इस घटना का वर्णन है। सचमुच ऐसा चमत्कार कम देखने में आता है।

अधर

नायिका के अधर की उपमा कितनी अच्छी है —

तवैप निद्रुमच्छायो मरुमार्ग इवाधरः।
करोतु कस्य नो मुग्धे! पिपासाकुलितं मनः॥

हे मुग्धे ! मूँगे के समान कान्तिवाला तेरा लाल होठ, वृक्षों की छाया से रहित मरुभूमि के मार्ग सा है। यह किसके मन को प्यास से व्याकुल नहीं कर देता ? इस श्लोक में 'विद्रुमच्छाय' पद श्लिष्ट है। इसका एक अर्थ है मूँगे (विद्रुम) की कान्ति (छाया) वाला, दूसरा अर्थ है द्रुम छाया—वृक्ष छाया—से रहित। इस पद के कारण अधर की उपमा मरुस्थल से दी गई है। वृक्ष की छाया से विरहित होने के कारण मरुस्थल प्रत्येक जन्तु के चित्त को प्यास से व्याकुल कर देता है। उसी प्रकार मूँगे की तरह लाल अधर प्रत्येक जन के मन को पान (चुम्बन) के लिये उत्कण्ठित कर रहा है। क्या ही अनुरूप उपमा है।

कान्ता के होठों का वर्णन कैसा अच्छा है—

यदमरशतैः सिन्धोरन्तः कथंचिदुपार्जितं
सकलमपि तद्धात्रा कान्तामुखे विनिवेशितम्।
सुरसुमनसः श्वासामोदे, शशीव कपोलयोः
अमृतमधरे, तिर्यग्भूते विषं च विलोचने॥

देवताओं ने समुद्र से मथन कर जिन रत्नों को निकाला, उन सबको ब्रह्मा ने सुन्दरी के मुख में रख दिया। साँस के गन्ध में कल्पवृक्ष के फूलों को रखा, होठों में अमृत और तिरछे नेत्रों में विष को रखा तथा दोनों कपोलों में चन्द्रमा को रख दिया। सुन्दरी का आनन क्या है ? भूमिदुर्लभ बहुमूल्य दिव्य रत्नों का आकार है—कीमती जवाहिरातों का खजाना है। जिन रत्नों को देवताओं ने कठिन परिश्रम के अनन्तर पाया था, ब्रह्मा ने उनको रमणी के वदन में आश्रय देकर बहुत ही अच्छा किया। दुर्लभ रत्नों को सुलभ तो बना डाला !

किं पद्मस्य रुचिं न हन्ति नयनानन्दं विधत्ते न किं
वृद्धिं वा झषकेतनस्य कुरुते नालोकमात्रेण किम्।
वक्त्रेन्दौ तव सत्ययं यदपरः शीतांशुरुज्जृम्भते
दर्पः स्यादमृतेन चेदिह तवाप्यस्त्येव बिम्बाधरे ॥

राजा उदयन सागरिका से कह रहा है कि तुम्हारे चन्द्रवदन के रहने पर यह दूसरा चन्द्रमा क्यों उदय ले रहा है ? उदय से यह अपनी जडता क्या नहीं प्रदर्शित करता ? इसके उदय होने की जरूरत ही क्या थी ? तुम्हारा मुख क्या कमल की शोभा को नहीं नष्ट कर देता ? क्या वह नेत्रों को आनन्द नहीं देता ? देखे जाने से ही क्या वह काम वासना को प्रबल नहीं बनाता ! चन्द्रमा के जो कार्य विदित हैं वे तो तेरे मुख में भी विद्यमान हैं। यदि अमृत धारण करने के कारण चन्द्रमा को गर्व है, तो क्या तेरे बिम्बाधर में सुधा नहीं है ? तुम्हारे चन्द्रवदन के सामने फिर चन्द्रमा के उदय लेने की जरूरत क्या ? यह पद्य काव्यप्रकाश में उद्धृत किया गया है।

मुख

मुख की सुन्दरता पर कैसी अच्छी कल्पना है—

तस्या मुखस्यातिमनोहरस्य कर्तुं न शक्तः सदृशं प्रियायाः।
अद्यापि शीतद्युतिरात्मबिम्बं निर्माय निर्माय पुनर्भिनत्ति ॥

शीत-किरण चन्द्रमा उस प्यारी के अत्यन्त मनोहर मुख के समान अपने को बनाने में सर्वदा असमर्थ है। यही कारण है कि आज भी अपने बिम्ब को सदा नया-नया बनाकर तथा उसे

उसके समान सुन्दर न पाकर फिर-फिर टुकड़े-टुकड़े कर देता है। मुख चन्द्रमा से भी अनुपमेय है।

कमलमनम्भसि कमले कुवलये
तानि च कनकलतिकायाम्।
सा च सुकुमारसुभगे-
त्युत्पातपरम्परा केयम्॥

विना जल का कमल है; उस कमल में नीले कमल लगे हैं और ये सोने की लता में हैं और यह लता भी कोमल तथा सुन्दर है—यह कौनसा उत्पात का समूह है! यह पद्य अतिशयोक्ति का परम सुन्दर उदाहरण है। रमणी का सौन्दर्य-निधान आनन बिना जल का कमल है; उसके नेत्र नीले कमल हैं। ये दोनों 'कनक छरी सी' सुकुमार नायिका के शरीर में उगे हैं। यह अनहोनी तथा अनसुनी घटना उत्पात-परम्परा की सूचना दे रही है।

वक्त्रं जेष्यामि चन्द्रः प्रतिदिवसमसौ कान्तिमभ्येति गुर्वी
नेत्रच्छायां हरिष्याम्यहमिति विकसत्युत्पलं दीर्घिकायाम्।
कुर्वाणे ते तथापि श्रियमधिकतरां वीक्ष्य लोलेक्षणायां
वैलक्ष्यात् क्षीण एको विशति तदपरं, मत्सरे नास्ति भद्रम्॥

पति नायिका से कह रहा है—तुम्हारे मुख को जीतने के लिये चन्द्रमा प्रतिदिन अधिक कान्ति को प्राप्त करता है। तेरे नेत्र की कान्ति को चुराने के लिये तालाब में कमल खिलते हैं; परन्तु मुख की अधिक कान्ति देखकर लज्जा के मारे चन्द्रमा क्षीण हो

गया है और कमल लाज से पानी मे प्रवेश कर लेता है। ठीक है, ईर्ष्या करने से कभी कल्याण नहीं होता।

कोई प्रेमी अपनी प्रियतमा की अतुलनीय शोभा का वर्णन कर रहा है—

वदनममृतरश्मिं पश्य कान्ते! तयोर्व्या-
मनिलतुलनदण्डेनास्य वार्द्धौ विधाता।
स्थितमतुलयदिन्दुः खेचरोऽभूल्लघुत्वात्
क्षिपति च परिपूर्त्यै तस्य ताराः किमेताः॥

ब्रह्मा ने पृथ्वी पर तेरे मुख और चन्द्रमा की समता देखने के लिये वायुमण्डल को तराजू बनाकर तौला। सुन्दरता मे अत्यन्त हल्का होने के कारण चन्द्रमा आकाश मे उठ गया। मालूम पडता है, कि उसकी पूर्ति के लिये ब्रह्मा चन्द्रमा के पलडे में इन ताराओं को फेंक रहा है। शायद ताराओं के साथ चन्द्रमा तुम्हारे मुख की समता कर सके। कल्पना कितनी अच्छी है!

मुख पर किसी की बडी अच्छी उक्ति है—

अबले! सलिले तपस्यता ते मुखभानो गमितो न पंकजेन।
कथमादिमवर्णतान्त्यजस्य द्विजराजेन कृतोरुनिग्रहस्य॥

हे नायिके! सदा जल मे खडा होकर बेचारा कमल तप किया करता है, परन्तु तिस पर भी उसने तुम्हारे मुख की समता नहीं पाई। हमेशा यत्न करता ही रह गया, परन्तु यह वर उसे नहीं मिला। कारण यह है कि जिस प्रकार श्रेष्ठ ब्राह्मण के द्वारा अच्छी तरह दण्डित तथा ध्वस्त किया गया अन्त्यज (शूद्र) आदिम वर्ण

(ब्राह्मण) नहीं हो सकता, उसी भाँति जिसे चन्द्रमा सदा सायंकाल को निग्रह कर देता है—बन्द कर देता है—ऐसा नीच अन्त्य जकार वाला पंकज कभी आदि मे मकार वाला शब्द (मुख) बन सकता है? पकज मुख साम्य कभी नहीं पा सकता। श्लिष्ट शब्दों मे कैसी विचित्र उक्ति है।

मुख निष्कलङ्क चन्द्रमा है। जरा इसकी उपपत्ति सुनिये—कैसा विचित्र रूपक बाँधा गया है—

> अस्यामपूर्व इव कोऽपि कलंकरिक्त-
> श्चन्द्रोऽपरः किमुत तन्मकरध्वजेन।
> रोमावली गुणमिलत्कुचमन्दरेण
> निर्मथ्य नाभिजलधिं ध्रुवमुद्धृतः स्यात् ॥

इस नायिका का मुख अद्भुत फलंक-रहित चन्द्रमा है। यह चन्द्रमा समुद्र मथन से नहीं निकला है; वह तो फलंक-सहित है। परन्तु इसमे तो कलंक नहीं है। माल्म पड़ता है, कि कामदेव ने स्तनों को मन्दराचल बनाकर रोमावली रूपी रस्सी से नाभि रूपी समुद्र को मथकर इसे अवश्य निकाला है। तभी तो इसमे कलंक नहीं है। कविजी ने क्या ही पते की बात कही। इस चन्द्रानन की समता भला यह जल (जड़) निधि संभूत चन्द्रमा कभी कर सकता है?

स्त्री तथा तड़ाग का रूपक कितना बढ़िया है—

> बाहू द्वौ च मृणालमास्यकमलं लावण्यलीलाजलं
> श्रोणीतीर्थशिला च नेत्रशफरी धम्मिल्लशैवालकम्।

ले रखा है। वेही नायिका के दोनों स्तन हैं। इसी के सहारे काम तथा यौवन अथाह नायिका के शरीर में घूम रहे हैं। क्या ही बढ़िया कल्पना है!

नाभि

कुचकुम्भौ समालम्ब्य तरीतुं कान्तिनिम्नगाम्।
प्रमादतस्ततो भ्रष्टा दृष्टिर्नाभौ निमज्जति॥

कान्तिरूपी नदीको पार करने के लिये दृष्टि ने कुच रूपी घड़ों पर आसन जमाया, परन्तु असावधानी के कारण घड़ों से गिरकर नाभि में डूब रही है। नाभि स्तनों से अत्यधिक सुन्दर है। स्तनों से उतर कर दृष्टि वहीं पर विश्राम कर रही है।

त्रिवली

त्रिवली पर क्या ही विचित्र उक्ति है—

हंहो नितम्ब कुचभार विधाय किं मां
मध्यस्थमभ्यधिकमुन्नमतां भवन्तौ।
इत्थं क्रुधेव करभोरु! तवोदरेण
भ्रूभङ्ग एष रचितस्त्रिवलिच्छलेन॥

ऐ नितम्ब और स्तन! क्यों तुम लोग मुझे पतली कमर पर रखकर अधिक ऊँचे बढ़ते जाते हो? हे पतली कमरवाली, इस प्रकार क्रोध से तुम्हारा उदर तीन वलियों (रेखाओं) के व्याज से मानों अपनी भौंहों को मरोड़ रहा है। जिस प्रकार क्रोध करने पर पुरुष की भौंहें टेढ़ी हो जाती हैं, उसी भाँति त्रिवली क्रोधी उदर की टेढ़ी भौंह है। कितनी अपूर्व उक्ति है!

कटि

करधनी क्या कह रही है? जरा सुनिये—

गुरुः प्रकृत्यैव नितम्बभारः स्तनद्वयं वृद्धिमुपैति चास्याः।
त्रुट्यामि मध्येन तनीयसेति काञ्चीरवैः फूत्कृतमायताक्ष्याः॥

नितम्बों का बोझ स्वभाव से ही भारी है और इस विशाल-नयना के दोनों स्तन अब बढ़ रहे हैं। अतः पतले कटिदेश में मैं इनके बोझ के मारे टूटी जा रही हूं। मानो बजती हुई करधनी शब्दों से यह कह रही है।

कटि पर क्या ही अच्छी कल्पना की गई है—

अहो प्रमादी भगवान् प्रजापतिः
कृशातिमध्या घटिता मृगेक्षणा।
यदि प्रमादादनिलेन भज्यते
कथं पुनः शक्ष्यति कर्तुमीदृशम्॥

ब्रह्मा ने बड़ी भारी भूल की है; क्योंकि उन्होंने उस मृगनयनी की कटि अत्यन्त पतली बनाई। यदि भूल से वायु के लगने से यह टूट जाय, तो फिर ऐसी कैसे बना सकता है। एक बार यह तैयार हो गई, फिर उसे ब्रह्मा बना ही नहीं सकता। वाह री पतली कमर! ऐसी पतली चीज हमेशा थोड़े बना करती है, कि जब चाहा उसे बिगाड़ कर नई बना दिया। यह तो बड़े परिश्रम से दैव के अनुकूल होने पर बन गई सो बन गई। अच्छा होता इतनी पतली चीज बनी न होती।

हृदयदेश फूट निकला है। स्वभावत गर्मी के मारे जल के सूख जाने पर तालाब का तल फट जाता है। कवि उत्प्रेक्षा करता है कि आशा न पूर्ण करने से तालाब का अयश उसके हृदय को फोड़कर बाहर निकल आया है। कल्पना वास्तव में बहुत अच्छी है।

दोपहर की गर्मी का क्या ही अच्छा वर्णन है—

दुःसहतापभयादिव सम्प्रति मध्यस्थिते दिवसनाथे।
छायामिव वाञ्छन्ती छायापि गता तरुतलानि॥

दोपहर में जब सूर्य आकाश के ठीक मध्य में विद्यमान रहता है, छाया भी, मानो असह्य गर्मी के डर, से छाया को चाहती हुई वृक्षों के नीचे चली गई है। दोपहर को वृक्षों के तले ही छाँह रहती है, अत मालूम होता है कि छाया गर्मी से डरकर वहीं चली गई है। क्या ही अच्छी कल्पना है।

हिन्दी में बिहारी का इसी भाव का क्या ही रमणीय तथा उत्कृष्ट दोहा है—

बैठि रही अति सघन बन, पैठि सदन तन माँह।
निरखि दुपहरी जेठ की, छाहौं चाहति छाँह॥

वर्षा

मेघाच्छन्न आकाश पर क्या ही अनूठी उक्ति है—

शीतलादिव संत्रस्तं प्रावृषेण्यान्नभस्वतः।
नभो बभार नीरन्ध्रं जीमूतकुलकम्बलम्॥

वर्षा काल में खूब ठंढी हवा चल रही है। मानो आकाश

उससे डरकर काले मेघों के रूप में सर्दी बचाने के लिये काला कम्बल ओढ़े हुए हैं।

काले मेघों पर किसी कवि की कल्पना कितनी बारीक है—

वज्रेण त्रिजगत्पतेर्नलरिपोरच्छिन्नपक्षाः पुरा
ये भीता निममज्जुरब्धिजठरे ते लूनपक्षान् गिरीन्।
आश्वास्य व्रणदुःखजां शमयितुं तेषामुदग्रव्यथा-
मुत्तस्थुर्जलदच्छलेन जलधेरूढाम्भसः पर्वताः॥

प्राचीनकाल में इन्द्र ने अपने वज्र से पर्वतों के पाँख को काट डाला, परन्तु कुछ पर्वत भय से भागकर समुद्र में जा छिपे; अतः उनके पाँख नहीं काटे गये। वे ही पर्वत पंख कटे हुए गिरियों की पीड़ा से पैदा हुई असीम व्यथा को दूर करने के लिये समुद्र के जल को धारण कर काले मेघों के रूप में आकाश में आ डटे हैं। मेघ क्या हैं, सहानुभूति-पूर्ण परोपकारी पर्वत हैं। क्या ही अच्छी सूक्ति है!

आकर्ण्य स्मरयौवराज्यपटहं जीमूतघोरध्वनिं
नृत्यत्केकिकुटुम्बकस्य दधतं मन्द्रां मृदंगक्रियाम्।
उन्मीलन्नवनीलकन्दलदलव्याजेन रोमाञ्चिता
हर्षेणेव समुच्छ्रितान्वसुमती धत्ते शिलीन्ध्रध्वजान्॥

नाचते हुए मोरों के लिये गम्भीर मृदङ्ग का काम करने वाली मेघों की ध्वनि के रूप में कामदेव के युवराज पद पाने के समय में नगाड़े को सुनकर नये नये कन्दल दल के छल से रोमाञ्चित हो पृथ्वी शिलीन्ध्र रूपी ध्वजाओं को धारण कर रही है।

वाता वान्तु कदम्बरेणुशबला नृत्यन्तु सर्पद्विषः
सोत्साहा नवगारिभारगुरवो मुञ्चन्तु नादं घनाः।
मग्नां कान्तवियोगशोकजलधौ मां वीक्ष्य दीनाननां
विद्युत् किं स्फुरसि त्वमप्यकरुणे स्त्रीत्वे समाने सति ॥

बिजली को सम्बोधन करके कोई वियोगिनी कह रही है— कदम्ब की धूलि से मिश्रित वायु बहें, मयूर नाचें, जल भरे मेघ गम्भीर नाद करें, परन्तु हे बिजुली ! कान्त विरह से शोक-समुद्र मे डूबी हुई दीन मुझे देखकर दया-रहित हो स्वय स्त्री भी होकर तुम मुझे दु ख देने के लिये क्यो चमक रही हो ? क्या ही सुन्दर उपालम्भ है !

ओले पर क्याही बढ़िया कल्पना है—

आस्वाद्य निर्विशेषं विरहिवधूनां मृदूनि मांसानि।
करकामिषेण मन्ये निष्ठीवति नीरदोऽस्थीनि ॥

नीरद (मेघ) ने वियोगी पुरुषों की स्त्रियों का कोमल मास खूब खाया। मास सब खतम हो गया। केवल हड्डी ही बाकी रह गई। मेघ हड्डी खा नहीं सकता; अतएव ओलों के रूप मे सफेद हड्डियों को गिरा रहा है। ठीक है, नीरद (दाँतरहित) मनुष्य भी माँस को तो खा डालता है; परन्तु हड्डियों को कैसे चबाये ? उसे फेंक देता है, वही दशा इस नीरद (मेघ) की भी है। क्या ही अनूठी सूझ है !

वर्षा की बहार देखिये, लाल-लाल वीर बहूटियों से पृथ्वी चारों तरफ आच्छादित हो गई है। मालूम पड़ता है कि ये वे लहू की बूँदे हैं, जो कामदेव के बाणो से घायल होनेवाले प्रवासी

विरहियों के हृदय से चू चू कर जमीन पर गिर पड़ी है। इन्द्रगोप के विरहोद्दीपक होने की बात अच्छी तरह से वर्णन की गई है—

इन्द्रगोपैर्बभौ भूमिर्निचितेव प्रवासिनाम्।
अनङ्गबाणैर्हृद्भेदश्रुतलोहितबिन्दुभिः ॥

सावन की छटा देखते ही विरहियों के हृदय में आग क्यों लग जाती है? इसका मार्मिक उत्तर यदि आपको जानना हो, तो वररुचि का यह सुभग पद्य पढ़िये—

व्योम्नि नीलाम्बुदच्छन्ने गुरुवृष्टिभयादिव।
जग्राह ग्रीष्मसंतापो हृदयानि वियोगिनाम् ॥

जब आकाश में काली काली घटाएं घिर आईं, तो ग्रीष्म ऋतु का ताप बहुत डरा कि कहीं अत्यन्त वृष्टि के मारे मेरा अस्तित्व ही नष्ट हो जाय। इसलिये अपने योग्य स्थान ढूँढ कर वह वियोगियों के हृदय में बलात् घुस गया। यही कारण है कि उनका हृदय सन्तप्त हो उठता है।

आलोहितमाकलयन् कन्दलमुत्कम्पितं मधुकरेण।
संस्मरति पथिषु पथिको दयितांगुलितर्जनाललितम् ॥

मार्ग में भौरों से हिलाये गये लाल लाल अंकुरों को देखकर पथिकों को अपनी प्यारी की अंगुली से किये गये सुन्दर तर्जन याद पड़ रहे हैं। दशन के लिए सचालित लाल अंगुलियों तथा भ्रमर कम्पित कन्दलों का रंग तथा कार्य एक समान है ही, अत एक से दूसरे की याद सहज में ही हो जाती है।

नीचे के पद्य में मेघमाला का वर्णन गर्भिणी के रूप में किया गया है—

सान्द्रनीहारसंवीततोयगर्भगुरूदरा ।
संततस्तनिताभाली निषसादाद्रिसानुषु ॥

घने कुहरे से ढके हुये जल को अपने गर्भ में धारण करने से गुरु उदर वाली तथा सदा गर्जन करनेवाली मेघमाला पहाड़ों के शिखरों पर बैठने लगी। क्या करे ? गर्भ के भार से क्लान्त गर्भिणी स्त्री भी तो ऊँची जगहों पर बैठ कर आराम करती है। मेघमाला भी विपुल जल के भार से सन्त्रस्त है, अत उसका पहाड़ों की ऊँची चोटियों पर बैठना नितान्त स्वाभाविक है।

आचार्य दण्डी ने भी 'समाधि' गुण के उदाहरण में इसी पद्य के अनुरूप निम्न लिखित श्लोक की रचना की है—

गुरुगर्भभरक्लान्ताः स्तनन्त्यो मेघपंक्तयः ।
अचलाधित्यकोत्सङ्गमिमाः समधिशेरते ॥

—काव्यादर्श; १ परि०, ६८ प०

क्षपां क्षामीकृत्य प्रसभमपहृत्याम्बु सरितां
प्रताप्योर्वीं कृत्स्नां तरुगहनमुच्छोष्य सकलम् ।
क्व सम्प्रत्युष्णांशुर्गत इति समालोकनपरा-
स्तडिद्दीपालोका दिशि दिशि चरन्तीह जलदाः ।

सावन की छटा छाई हुई है। प्रत्येक दिशा में बादल घिर आये हैं। बिजली भी इन मेघों में कौंध जाती है। इसी दृश्य का उत्प्रेक्षा-

पूर्ण वर्णन इस परम रमनीय कविता के द्वारा किया गया है। कवि कहता है—कि ये परम उपकारी जलद—जो न्याय की जीवित मूर्ति हैं, क्योंकि उनके लिये ऊँच तथा नीच की व्यवस्था का अस्तित्व ही नहीं है—बिजुली रूपी दीपक के प्रकाश में चारों ओर घूम रहे हैं। भला इनके घूमने का उचित कारण क्या हो सकता है? कवि कहता है कि तीक्ष्ण किरणवाले अपराधी सूर्य की तलाश में ये इधर उधर घूम रहे हैं। जरा तिग्मांशु के अपराध पर दृष्टिपात कीजिये। उसने रातों को पतली बना डाला है, नदियों का जल चुरा डाला है, समग्र विस्तीर्ण पृथ्वी को तपा डाला है, वृक्ष समूह को सुखा डाला है, इन अपराधों के करने के बाद न जाने किस दिशा में यह मुजरिम छिपा हुआ है। इसलिये इन्साफपसन्द बादल उसकी तलाश में चारों ओर घूम रहे हैं। क्या इससे भी बढ़कर कल्पना मेघों के भ्रमण के विषय में की जा सकती है? सरल शब्दों में कितने रमणीय भाव भर दिये गये हैं।

निरीक्ष्य विद्युन्नयनैः पयोदो मुखं निशायामभिसारिकायाः।
धारानिपातैः सह किंनु वान्तश्चन्द्रोऽयमित्यार्ततरं ररास॥

वर्षा काल में मेघों की प्रचण्ड गर्जना हो रही है। पाणिनि की संस्मरण में यह नीरस गर्जना नहीं, बल्कि उनका करुण क्रन्दन
मार्ग यह है, कि रात के समय अभिसारिका के मुख को बिजुली
पथिकों को से देखकर मेघों को यह सन्देह हो रहा है कि कहीं हमारे
याद पड़ रहे। के साथ साथ चन्द्रमा जमीन के ऊपर तो नहीं गिर
भ्रमर कम्पित। ऐसा नहीं है, तो इस गाढान्धकार में अभिसारिका
एक से दूसरे रंगीला चेहरा कहाँ से आया। नायिका के परम-

शान्तिमय मुख को देखकर उन्हें चन्द्रमा का सन्देह हो रहा है। इस सन्देह मे विभोर होकर वे इतना करुण क्रन्दन करते हैं।

गतेऽर्धरात्रे परिमन्दमन्दं, गर्जन्ति यत्प्रावृषि कालमेघाः।
अपश्यती वत्समिवेन्दुबिम्बं तच्छर्वरी गौरिव हुङ्करोति॥

वर्षा मे आधी रात के समय चन्द्रमा का बिम्ब मेघों के पटल मे बिल्कुल अन्तर्हित हो गया है। बादलों की कड़ाके की आवाज चारों ओर से आ रही है। इस पर हमारे सहृदय कवि कह रहे हैं कि यह तो निशा रूपी गाय का हुङ्कार है। जिस प्रकार प्यारे बछड़े को आखों के सामने न देखकर गाय हुङ्कार भरती है, उसी प्रकार यह रात्रि भी अपने प्यारे चन्द्र को न देखकर मेघ गर्जन के व्याज से हुङ्कार कर रही है।

शिशिरसीकरवाहिनि मारुते चरति शीतभयादिव सत्वरः।
मनसिजः प्रविवेश वियोगिनीहृदयमाहितशोकहुताशनम्॥

वर्षाकाल मे ठढे ठढे जल-कणों से भरी हुई हवा चल रही है। जाडा लग रहा है। बेचारा कामदेव भी ठढक से मर रहा है। भगकर जाय, तो कहाँ जाय? सब जगहों मे ठढक ही ठढक है; पर हाँ, एक स्थान ऐसा है, जहाँ बराबर आग जल रही है। वह जगह है—वियोगिनी का हृदय। पति परदेश चला गया है। पत्नी के हृदय मे शोक की आग जल रही है। बस, कामदेव चालाक तो ठहरा ही, झट से वियोगिनी के हृदय मे घुस गया। क्या ही बढ़िया उक्ति है!

वर्षा में खद्योतों पर कैसी अच्छी उपमा दी गई है—

प्राचीमहीधरशिलानिनिवेशितस्य
धाराधरस्फुरदयोधनताडितस्य ।
तप्तायसस्य तपनस्य कणा निकीर्णाः
खद्योतपोतसुषमा स्फुटमावहन्ति ॥

उदयाचल रूपी शिला के ऊपर सूर्य रूपी तपाया हुआ लोहा रक्खा हुआ है। मेघ लोहे के बने घन (हथौड़े) हैं। उन्हीं से उस लोहे पर चोट की जाती है। बस! आग के कण निकल रहे हैं। खद्योतों का समूह ठीक उन्हीं कणों के समान मालूम पड़ता है वर्षाकाल में इधर उधर चमकने वाले खद्योतों को कवि ने कितनी अच्छे ढंग से सूरज के टुकड़े बतलाया है !

मेघ

मेघ से चातक के बच्चे के ऊपर दया करने का यह प्रार्थना कितनी रुचिरता से की गई है—

वितर वारिद वारि दवातुरे
चिरपिपासित-चातक-पोतके ।
प्रचलिते मरुति क्षणमन्यथा
क्व च भवान् क्व पयः क्व च चातकः ॥

हे जल बरसाने वाले मेघ, चातक का यह बच्चा बहुत दिनों से प्यासा है तथा जगत में आग लगने से यह व्याकुल है। यों तो यह और पानी पीता भी नहीं और तिसपर लगी है जगल में

भयानक आग जिसकी गर्मी से वह नितान्त आतुर है। ऐसी दशामें उस पर जल बरसाओ जिससे उसकी प्यास तो शान्त हो। मत समझो कि यह तेरी दशा सदा रहने वाली है। यदि जोरों की हवा बहने लगी, तो सारा दृश्य बदल जायगा। उस समय तुम कहाँ, जल कहाँ? और वह चातक कहाँ? फलत जब तक तुम्हारी स्थिति शोभन है, अपनी सम्पत्ति का उपयोग करो तथा दान जनों का पालन करो—यही है इस अन्योक्ति का निगूढ़ तात्पर्य किसी सम्पन्न धनी मानी व्यक्ति से। पद्यमे शब्दों की योजना कितनी सुकुमार तथा मनोहर है। प्रथम चरण का यमक तो नितान्त आकर्षक है।

मेघ का जीवन अपने शरणापन्न चातक की पियासा शान्त करने से सफल होता है। इसलिए कोई कवि मेघको उलाहना दे रहा है—

गर्जित-बधिरीकृतजगता किमपि कृतं न घनेन।
कियती चातक चञ्चुपुटी साऽपि भृता न जलेन॥

इस बादल ने अपने गर्जन से ससार को बहरा बना डाला, परन्तु इससे लाभ ही क्या? आखिरकार इसने सिद्ध ही क्या किया? चातक की चञ्चुपुटी (चोंचके भीतर का स्थान) ही कितनी बड़ी!!!

उसको भी जब इसने जल से नहीं भरा, तब क्या कहा जाय इस गम्भीर गर्जनकारी घनको। वागाडम्बरवाले किसी पण्डित-मन्यके ऊपर यह अन्योक्ति कितनी फबती है।

इसी सूक्ति का परिबृंहण इस पद्यमें बड़ी सुन्दरता से किया गया है—

रे धाराधर ! धीर ! नीरनिकरैरेषा रसा नीरसाऽ
शेषा पूपकरोत्करैरतिखरैरापूरि भूरि त्वया ।
एकान्तेन भवन्तमन्तर्गतं स्वान्तेन संचिन्तयन्
आश्चर्यं परिपीडितोऽभिरमते यच्चातकस्तृष्णया ॥

शूद्रक ने वर्षा का बड़ा विशद वर्णन—किया है। धर्मप्राण चारुदत्त को मेघाच्छन्न आकाश के—देखने पर वामन भगवान् की लीला स्मरण हो आती है —

मेघो जलार्द्रमहिषोदरभृङ्गनीलो
विद्युत्प्रभारचितपीतपटोत्तरीयः ।
आभाति संहतबलाकगृहीतशङ्खः
खं केशवोऽपर इवाक्रमितुं प्रवृत्तः ॥

जल से भींगे भैंसे के उदर तथा भौंरे की तरह मेघ नीला है। उसमें बिजुली की चमक पैदा हो रही है, यही-पीली चादर जान पड़ती है। बलाका—बक-पंक्ति मेघ के समीप उड़ रही है। वह शंख की तरह है। आकाश में इस प्रकार मेघ को—देखकर मालूम होता है कि दूसरे केशव—नभोमण्डल को आक्रमण करने के लिये उद्यत है।

गता नाशं तारा उपकृतमसाधाविव जने
वियुक्ताः कान्तेन स्त्रिय इव न राजन्ति ककुभः ।
प्रकामान्तस्तप्तं त्रिदशपतिशस्त्रस्य शिखिना
द्रवीभूतं मन्ये पतति जलरूपेण गगनम् ॥

जिस प्रकार दुर्जन के साथ किया गया उपकार नष्ट हो जाता है; उसी प्रकार ताराएँ नष्ट हो गई हैं। प्रियों से वियुक्त स्त्रियों की तरह दिशाएँ शोभित नहीं होतीं। इन्द्र के वज्र की अग्नि से भीतर ही अत्यन्त तपाया गया यह आकाश जान पड़ता है, पिघल-पिघल कर पानी के रूप में पृथ्वी पर गिर रहा है। पूर्वार्द्ध में उपमाएँ तथा उत्तरार्द्ध में उत्प्रेक्षा अवलोकनीय है।

शरद्

ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरद्धानार्द्रनखक्षताभम्।
प्रसादयन्ती सकलङ्कमिन्दुं तापं रवेरभ्यधिकं चकार॥

शरद्काल में चन्द्रबिम्ब विमल हो जाता है; परन्तु आकाश में मेघों के न होने से सूर्य की गर्मी पहले से और भी अधिक हो जाती है। इस प्राकृतिक-घटना पर पाणिनि ने विलक्षण कल्पना की सृष्टि की है। उनकी सम्मति में शरद् का यह व्यवहार नायिका के समान प्रतीत होता है। नायिका के समान शरद् शुभ्र पयोधरों (मेघ तथा स्तन) पर नखक्षत के समान रङ्ग-बिरङ्गे इन्द्रधनुष को धारण करती हुई कलङ्की चन्द्रमा (मानो उपनायक) को प्रसन्न (निर्मल) कर रही है और साथ-ही-साथ सूर्य (नायक) के ताप (मानसिक दुःख तथा गर्मी) को भी अधिक बढ़ा रही है। इस प्रकृतिक घटना पर नायिका-नायक का चरित्र पूर्णतया घटित हो रहा है।

उपकारिणि विक्षीणे शनैः केदारवारिणि।
सानुक्रोशतया शालिरभूत्पाण्डुरवाङ्मुखः॥

जब खेत का उपकारी जल धीरे धीरे घटने लगा, तब धान भी सहानुभूति से पीला पड गया और उदास होकर उसने अपना मुँह नीचे कर लिया। धान सोचने लगा कि खेत के ही जलसे मेरी पुष्टि हुई है। इसने मुझे पोस पाल कर इतना बडा बनाया है, फलयुक्त भी कर दिया है। परन्तु जब मेरा उपकारी मित्र ही चल बसा, तो मेरा कृतघ्न की भाँति खडा रहना शोभा नहीं देता। इसलिये सहानुभूति से उसका चेहरा पीला पड गया है और उसने शोक से सिर झुका लिया है। पके हुए धान का क्याही स्वाभाविक सुभग वर्णन है!

> कलमं फलभारातिगुरुमूर्धतया शनैः।
> निम्ननामान्तिकोद्भूतंसमाघ्रातुमिवोत्पलम्॥

खेता में धान के पौधे लहरा रहे हैं। पकी हुई बालियों के बोझ से उनका मस्तक झुका हुआ है। जान पडता है समीप में उगे हुए कमलों को सूघने के लिये धान के पौधों ने अपना सिर झुका लिया है। धान का यह काम सर्वथा उचित है। यदि सजीव प्रकृति के पौधे सूघने का प्रयत्न करते हैं, तो क्या बेजा करते हैं।

भौंरे के ऊपर एक क्या ही अनूठी कल्पना है—

> अयं स्निग्धश्यामो य इह विहरत्यम्बुजवने
> विनिद्रे व्याकुर्वन्मधुप इति तं जल्पतु जनः।
> अहं शङ्के पद्मैरवहुहरनासव्यसनिनो
> श्रियं भृङ्गच्छद्मा मुररिपुरुपेतो रमयितुम्॥

कोई कवि कह रहा है कि खिले हुए कमल-वन में विहार करने वाले सुन्दर काले व्यक्ति को लोग भौंरा कहा करें, परन्तु मैं

तो समझता हूं कि कमल में रहनेवाली लक्ष्मी के साथ रमण करने के लिये स्वयं विष्णु भौंरे के रूप में आये हैं। यह भौंरा नहीं है,स्वयं मुरारि हैं।

एकेन चुलुकेनाब्धिर्निपीतः कुम्भयोनिना।
तस्योदयेऽतः कालुष्यं त्यजन्त्यापो भयादिव॥

अगस्त्य मुनि ने एक ही चुलुक (चुल्लू) में समुद्र को पी डाला, इसलिये डर के मारे उनके उदय होने पर जल सूख जाता है। अगस्त्य के उदय होने पर पानी के सूखने के कारण की खोज क्या ही अच्छी है!

न तज्जलं यन्न सुचारुपङ्कजं न पङ्कजं तद् यदलीनषट्पदम्।
न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलं न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः॥

इस सुहावने शरद में ऐसा कोई सरोवर नहीं है—जिसमें सुन्दर कमल न खिले हों। ऐसा कोई पङ्कज नहीं है जिस पर भ्रमर नहीं बैठे हों। ऐसा कोई भौंरा नहीं है जो गूंज न रहा हो और ऐसी—भनभनाहट भी नहीं है जो मन को न हर—लेती हो। साराश यह है कि शरद् में सरोवरों में सुन्दर कमल खिले हुए हैं, कमलों पर बैठे हुये भौरों की रसीली भनभनाहट मनुष्यों के चित्त को चुरा रही हैं। वाग्देवतावतार—श्रीमम्मटाचार्य ने काव्यप्रकाश में इस पद्यको, एकावली, का उत्कृष्ट उदाहरण—बतलाया है।

मुखैरसौ विद्रुमभङ्गलोहितैः
शिखाः पिशङ्गः कलमस्य बिभ्रती।

शुकावलिर्व्यक्तशिरीषकोमला
धनुः श्रियं गोत्रभिदोऽनुगच्छति ॥

शरद का सुहावना समय है। सुग्गों की पाँत-की पाँत उड़ रही है। शिरीष के फूल की तरह—कोमल हरे शुकों की पाँत मूँगे के टुकड़े के समान लाल लाल चोंचों में धान की पीली पीली वालियों को लिये हुए आकाश में उडी जा रही है। मालूम पडता है कि आकाश मे इन्द्र धनुष उगा हो। सुग्गों का शरीर है हरा, चोंच है लाल, उन चोंचों मे ली हुई धान की बालियाँ है पीली—वाह ? इन रंगों की मिलावट क्या इन्द्र धनुष से कम—सुहावनी जँचती है। महाकवि भारवि ने शरद के इस शोभन दृश्य को कितने सुन्दर शब्दों में वर्णन किया है। कल्पना एकदक नई है। वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक है।

मृणालिनीनामनुरञ्जितं त्विषा
विभिन्नमम्भोजपलाशशोभया।
पयः स्फुरच्छालिशिखापिशङ्गितं
द्रुतं धनुष्खण्डमिवाहिविद्विषः ॥

धान के खेतों मे जल कितना सुन्दर मालूम पड़ता है। कमलिनी खिली है। कमल लता के हरे रंग के कारण जल भी हरा हो गया है। कमल के पत्तों की शोभा के साथ जल की शोभा मिल रही है। खेत में धानों की पकी पकी पीली शिखा (बालियाँ) सिर पर—हिल रही हैं जिनसे जल भी पीला हो गया है। इस प्रकार खेत का जल ऐसा मालूम पड़ता है कि

मानों वृत्र के शत्रु इन्द्र महाराज का रंग बिरंगा धनुष, गलकर पानी के रूप में बह रहा हों। क्या ही अनोखी कल्पना है।

> अमी पृथुस्तम्बभृतः पिशङ्गता
> गता विपाकेन फलस्य शालयः।
> विकासि वप्राम्भसि गन्धसूचितं
> नमन्ति निघ्रातुमिवासितोत्पलम्॥

खेत में बालियों के पक जाने पर धान के पौधे पीले पड़ गये हैं। बालियों के बोझ के कारण पौधे झुक—गये हैं। जान पड़ता है कि खेत के जल में खिले हुए, गन्ध द्वारा जाने गये, इन नीले कमलों को सूघने के लिये ये पौधे झुके हैं। कवि ने बहुत ठीक कहा। बालियों के बोझ से अवनत धान—के पौधों पर क्या ही सुन्दर उत्प्रेक्षा है। कविने अपना प्रकृतिज्ञान खूब अच्छे ढंग से अभिव्यक्त किया है।

> उपैति शस्यं परिणामरम्यता
> नदीरनौद्धत्यमपङ्कता महीम्।
> नवैर्गुणैः सम्प्रति संस्तवस्थिरं
> तिरोहितं प्रेम घनागमश्रियः॥

शरद् ऋतु का स्वाभाविक वर्णन है। धान पक गये हैं अत सुन्दर मालूम पड़ रहे हैं। नदियों में वर्षा काल वाली उद्धतता नहीं है। पृथ्वी पर पंक बिल्कुल सूख गया है। वर्षाकालकी-शोभा के प्रेम को अत्यन्त परिचित, अत स्थिर—होने पर भी,

इस शरद् ने अपने नये गुणों के कारण छिपा डाला है—शरद् के सामने, अब वर्षा को सब भूल गये हैं।

ठीक है, गुण की कद्र होती है परिचय की नहीं।

काशांशुका विकचपद्ममनोज्ञवक्त्रा
सोन्मादहंसरवनूपुरनादरम्या।
आपक्वशालिरुचिरा तनुगात्रयष्टिः
प्राप्ता शरन्नववधूरिव रूपरम्या॥

नवविवाहिता वधू की तरह रमणीय रूप वाली शरद् आ गई। खिले हुये काश इसके वस्त्र हैं। विकसित कमल-समूह इसका मनोहर मुख है। उन्मत्त हंसों की ध्वनि इसके नूपुर की आवाज है। पके हुये धान के खेतों की शोभा की तरह इसके पतले गात्र की सुघरता है। नवीन विवाहिता तथा शरद् की समता कितनी मनोमोहक है।

हेमन्त

जाड़े के छोटे दिनों पर कैसी उपमायें दी गई हैं—

लज्जा प्रौढमृगीदृश इव नवस्त्रीणां रतेच्छा इव
स्वैरिण्या नियमा इव स्मितरुचः कुल्याङ्गनानामिव।
दम्पत्योः कलहा इव प्रणयिता वाराङ्गनानामिव
प्रादुर्भूय तिरोभवन्ति सहसा हैमन्तिका वासराः॥

प्रौढ नायिका की लज्जा के समान, नई स्त्रियों की सम्भोग करने

की इच्छा के तुल्य, व्यभिचारिणी के नियम की तरह, कुलाङ्गनाओं की हँसी के समान, स्त्री पुरुष के झगड़े के समान, वेश्याओं के प्रेम के सदृश, जाड़े के दिन प्रकट होकर शीघ्र ही छिप जाते हैं। क्या ही सुन्दर उक्ति है !

जाड़े की बड़ी रात्रियों पर कैसी अनूठी सूझ है—

अयि दिनमणिरेषः क्लेशितः शीतसङ्घे-
रथ निशि निजभार्यां गाढमालिङ्ग्य दोर्भ्याम्।
स्वपिति पुनरुदेतुं सालसाङ्गस्तु तस्मात्
किमु न भवतु दीर्घा हैमिनी यामिनीयम् ॥

जाड़े के ऋतु में कड़ाके का जाड़ा पड़ रहा है। बेचारे सूर्य को भी जाड़ा सता रहा है। इसलिये रात में अपनी प्रियतमा को अपनी भुजाओं से अच्छी तरह आलिङ्गन कर वे सो रहे हैं, फिर उठने में आलस मालूम हो रहा है। अतः सूर्य लेटे हुये हैं, उठना नहीं चाहते। तब भला हेमन्त की रात बड़ी क्यों न हो। क्या ही अनूठी कल्पना है !

यह भी उक्ति बहुत अच्छी है—

चक्रे चण्डरुचा समं रणमसौ हेमन्तपृथ्वीपति-
र्ये ये तत्र जिता दिनाकरकरास्ते तेऽमुना तत्क्षणात्।
कान्तानां कुचभूधरे निदधिरे मन्येऽहमेवं तदा
नो चेत् मन्दकरः कथं दिनकरस्तप्तश्च तन्वीस्तनः ॥

हेमन्त रूपी राजा ने प्रचण्ड किरण वाले सूर्य के साथ घन-घोर युद्ध किया, दिवाकर बिचारे हार गये। हेमन्त ने जिन-जिन करों (किरणों) को सूर्य से लिया, उन्हें उसी समय कान्ता के स्तनरूपी पर्वत पर रख दिया। यही कारण है कि सूर्य की किरण मन्द हो गई है और कान्ता का स्तन इतना गर्म है। क्याही बढ़िया कल्पना है !

प्रभात-वर्णन

प्रभात का क्या ही सुन्दर वर्णन है—

कुरुते यावदेवेन्दुर्दिनश्रीपरिचुम्बनम् ।
संप्राप्ते तत्पतौ तावत् पाण्डुच्छायस्तिरोदधे ॥

चन्द्रमा दिवस की शोभा को चूम रहा था। इतने में उसका पति सूर्य आ पहुँचा। अतः लज्जा के मारे चन्द्र पीला पड़ गया और शीघ्र ही अन्तर्ध्यान होगया। सूर्योदय के होते ही चन्द्रमा मानो इसी डर के मारे भग जाता है।

सबेरे तारे क्यों छिप जाते हैं? जरा इसका सुनिये—

रात्रिर्मयि प्रोषित एव संगता हिमत्विषाऽभूत्कृतमण्डना सती ।
इतीर्ष्ययेव द्रुतमच्छिनद्रुषा विचित्रताराभरणानि भास्करः ॥

जब मैं विदेश गया था, तब यह रात्रि रूपी नायिका अलंकार पहन चन्द्रमा के साथ समागम करती थी। मानो इस ईर्ष्या से आते ही सूर्य ने उसके तारा-रूपी गहनों को क्रोध से शीघ्र ही तोड़ डाला है। रात्रि तो प्रोषित-पतिका नायिका है। प्रोषित-पतिका नायिका को तो 'मलिना' 'कृशा' होना चाहिए; परन्तु यहाँ रजनी तो सजधज कर खड़ी है। इसी कारण सूर्य ने उसके सुन्दर गहनों को तोड़ कर फेंक दिया है।

प्रातःकालीन चन्द्रमा पर कवि कल्पना कर रहा है—

सपदि कुमुदिनीभिर्मीलितं हा क्षपापि,
क्षयमगमदपेतास्तारकास्ताः समस्ताः ।

इति दयितकलत्रश्चिन्तयन्नङ्गमिन्दु-
र्वहति कृशमशेषं भ्रष्टशोभं शुचेव ॥

कुमुदिनी शीघ्र बन्द हो गई, रात भी बीत गई, समस्त तारे नष्ट हो गये। इस प्रकार अपनी प्रिया को सोचता हुआ चन्द्रमा शोक से बिल्कुल कृश और शोभारहित हो गया है।

चन्द्रमा पर क्या ही अच्छी कल्पना है—

नभोवनं नक्तमसौ निगाह्य
नक्षत्रसेनासहितः शशांकः।
कराग्रलग्नान् कतिचित् प्रहृत्य
पान्थान् प्रभाते प्रपलायतेऽद्य ॥

चन्द्रमा तारा रूपी सेना के साथ रात ही में आकाश रूपी जंगल में घुस गया और शर रूपी किरणों से कितने ही पथिकों को मार कर प्रात-काल भागा जा रहा है।

सूर्य पर किसी कवि की कैसी चमत्कारिणी उक्ति है—

आगत्य सम्प्रति वियोगविसंस्थुलाङ्गी-
मम्भोजिनीं क्वचिदपि क्षपितत्रियामः।
एतां प्रसादयति पश्य शनैः प्रभाते
तन्वङ्गि! पादपतनेन सहस्ररश्मिः ॥

कहीं पर रात बिता कर सूर्य कमलिनी के पास सवेरे आया है। अपनी वियोग-विधुरा भार्या को प्रसन्न करने के लिये हजारों किरण वाला सूर्य उसके पैरों पर सवेरे गिर रहा है। रात में सूर्य

के न आने के कारण कमलिनी रूठ गई है। अत: उसे मनाने के लिये वह उसके पैर पर गिर रहा है। क्या करे, अपराधी नायक किसी तरह अपनी प्रिया को प्रसन्न करता ही है कवि ने सूर्य को इस पद्य में अपराधी नायक के रूप में दिखलाया है।

उदयगिरिगतायां प्राक् प्रभापाण्डुताया-
मनुसरति निशीथे शृङ्गमस्ताचलस्य।
जयति किमपि तेजः साम्प्रतं व्योममध्ये-
सलिलमिव विभिन्नं जाह्नवं यामुनं च॥

रात का अवसान हो चला है। प्रभात की वेला समीप है। राजा को निद्रा से जगाने के लिये वैतालिक कह रहा है कि राजन्! प्रभात हो रहा है। इधर उदयगिरि के शिखर पर प्रभा के कारण प्रकाश चमक रहा है, उधर अन्धकार अस्ताचल की चोटी पर निवास करने के लिए जा रहा है। इस समय आकाश के बीचो-बीच कोई अवर्णनीय तेज (प्रकाश और अन्धकार के संमिश्रण से उत्पन्न तेज) शोभित हो रहा है। जान पड़ता है मानो नीलवर्णा यमुना के जल से संगत पुण्यसलिला श्वेतनीरा आकाशगंगा का जल हो। श्वेत प्रकाश तथा नील तम के मिश्रण के लिए कालिन्दी के जल से मिश्रित गगा-जल की उपमा वस्तुतः रमणीय है। पहले तो नभोमण्डल मे केवल आकाश गंगा की ही स्थिति की बात कविजनों को ज्ञात थी, परन्तु इस स्थान पर त्रिविक्रम ने अपनी मौलिक प्रतिभा के बल से यमुना की अवतारणा की है। इसीलिए इस मनोरम सूक्तिसे प्रसन्न होकर आलोचकों ने आपको यमुना त्रिविक्रम कहा है।

त्रिविक्रमभट्ट का दूसरा नाम 'यमुनात्रिविक्रम' था। घण्टामाघ

तथा ताल-रत्नाकर की तरह रसिक आलोचकों ने इनके एक पद्य के रमणीय भाव पर मुग्ध होकर इन्हें यह नाम प्रदान किया था। यह पद्य नलचम्पू के षष्ठ उच्छ्वास के प्रारम्भ में पाया जाता है।

कुमुदिनी की दुरवस्था पर रो रहे वृक्ष की हालत यह है—

निशातुषारैर्नयनाम्बुकल्पैः पत्रान्तपर्यागलदच्छबिन्दुः ।
उपारुरोदेव नदत्पतङ्गः कुमुद्वतीं तीरतरुर्दिनादौ ॥

प्रातःकाल प्यारे चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर कुमुदिनी की दुरवस्था को देखकर सरोवर के किनारे खड़ा हुआ वृक्ष भी रो रहा है। हाय ! वही कुमुदिनी अब संकुचित हो गई जो अभी अपने प्रियतम चन्द्रमा की शीतल रश्मियों में हँसती हुई कल्लोलें कर रही थी। कुमुदिनी की दुःखद अवस्था, सचेतन मनुष्य को कौन कहे, अचेतन जड वृक्ष को भी रुला रही है। वृक्ष के कोमल पत्ते उसकी आँखें जान पड़ते हैं। और उसके ऊपर गिरा हुआ ओस आँसुओं की तरह मालूम हो रहा है। पत्तों से गिरते हुये सुन्दर ओस के कण आँखों से गिरने वाले आँसुओं के समान जान पड़ते हैं। वृक्ष पर चहकती हुई चिड़ियों की आवाज रोने के स्वर सा जान पड़ती है। अतएव तीरस्थ यह वृक्ष वास्तव में चिड़ियों के शब्द के व्याज से मानो रो रहा है। वृक्ष का यह करुणक्रन्दन किसे सुभग नहीं मालूम पड़ता।

अरुण जलजराजीमुग्धहस्ताग्रपादा,
बहुलमधुपमालाकज्जलेन्दीवराक्षी ।
अनुपतति विरावैः पत्रिणां व्याहरन्ती
रजनिमचिरजाता पूर्वसन्ध्या सुतेव ॥

रात बीत गई है। पूर्वसन्ध्या (प्रात काल) आ रही है। जिस प्रकार कमल के समान सुन्दर हाथ पैर वाली, आँखों में मनोहर अञ्जन लगाकर कोई बालिका अपने बाल सुलभ तोतले शब्दों को कहती हुई अपनी माता के पीछे पीछे दौडती है, उसी भाँति पूर्वसन्ध्या—जिसके लाल कमल की श्रेणी ही हाथ पाँव है, भ्रमर मालारूपी कज्जल से युक्त कमल ही जिसके नेत्र है—पक्षियों के शब्दों से बोलती हुई रात्रि के पीछे २ दौडती चली आरही है। वाह ? क्याही अनुरूपरूपक है ?

> उदयशिखरिशृङ्गप्राङ्गणेष्वेष रिङ्गन्,
> सकमलमुखहासं वीक्षितः पद्मिनीभिः।
> विततमृदुकराग्रः शब्दयन्त्याऽवयोभिः,
> परि पतति दिवोऽङ्के हेलया बालसूर्यः॥

जिस प्रकार आँगन मे खेलता हुआ कोई बालक बुलाने वाली अपनी माता की गोद मे हसते हुए अपने कोमल हाथों को फैलाकर जा गिरता है। उसी प्रकार बाल सूर्य (बालक-सूर्य) उदयाचल के शिखर रूपी आँगनों मे घूमता हुआ, मुखके समान कमलों को विकसित करने वाली कमलिनियों से देखा गया। अपने कोमल करों (किरणो) को फैलाकर, पक्षियों के द्वारा शब्द करने वाली आकाश रूपी माता की गोदी में लीला पूर्वक गिर रहा है। वाह री कल्पना की बहार ? अलकारों की अनुपमछटा श्लेष तथा अतिशयोक्तियों से परिपुष्ट किए गए रूपक की रमणीयता वास्तव मे प्रशंसनीय है, आदरणीय है।

चिततपृथुवरत्रा तुल्यरूपैर्मयूखैः
कलश इव गरीयान् दिग्भिराकृष्यमाणः ।
कृतचपलविहङ्गालापकोलाहलाभि-
र्जलनिधिजलमध्यादेष उत्तार्यतेऽर्कः ॥

चारों ओर फैली हुई, मोटी रस्सियों के समान किरणों के द्वारा खींचा जाता हुआ, बड़े भारी कलश के समान यह सूर्य दिशा रूपी नारियों से समुद्र के जल से निकाला जा रहा है। जिस प्रकार कलश रस्सी की सहायता से बाहर निकाला जाता है, उसी प्रकार पूर्व समुद्र में डूबे हुए सूर्य को दिशायें किरण रूपी रस्सियों से खींच कर निकाल रही हैं। जिस प्रकार घड़े को जल से निकालने के समय बड़ा कोहाहल होता है, उसी तरह प्रातः काल की चुहचुहाती चिड़िया शोर मचा रही हैं। बाहरी कल्पना की नवीनता ? प्रातःकाल के समय, पक्षिगण का मनोहर कोलाहल कर्ण पुट को सुख देता है। चारों ओर किरणें फैलाने वाले सूर्य का क्या ही सुन्दर वर्णन है।

सायंसुषमा

क्या ही अच्छी उक्ति है—

करसादोऽम्बरत्यागस्तेजोहानिः सरागता ।
वारुणीसङ्गजावस्था भानुनाप्यनुभूयते ॥

वारुणी (मदिरा) के साथ से हाथ सुन्न हो जाता है, वस्त्र का छोडना—नग्नावस्था, तेज का नाश तथा विषय मे अनुराग हो जाता है। सायकाल मे वारुणी (पश्चिम दिशा) के साथ से बेचारे सूर्य की भी ठीक वही अवस्था हो गई है। किरणें नष्ट हो गई हैं, आकाश छुट गया है (आकाश से वह गिर पडा है), तेज नष्ट हो गया है और ललाई आगई है। वारुणी का ऐसा प्रभाव ही होता है।

शाम को कमल के बन्द होने का कारण क्या है, उसे कविजी के मुख से सुनिये—

प्रोज्झ्य मित्रमपवर्जितदोषं नाशयप्रकटनं मम युक्तम् ।
नूनमेवमवमृष्य तदानीं मीलितं हृदयमम्बुरुहेण ॥

निर्दोष [दोषा (रात) को दूर करनेवाले] मित्र (सूर्य) को छोड कर तालाब में मेरा खिलना अयुक्त है। यही सोचकर सन्ध्याकाल में कमल अपने हृदय को बन्द कर लेता है। मित्र प्रेम ऐसा ही होना चाहिये।

कमल के बन्द होने का यह दूसरा कारण भी कितना सुन्दर है—

कृतोपकारं प्रियबन्धुमर्क मा द्राक्ष्म हीनांशुमधः पतन्तम् ।
इतीव मत्वा नलिनीवधूभिर्निमीलितान्यम्बुरुहेक्षणानि ॥

उपकार करने वाले, प्रियसखा, सूर्य को तेजरहित और नीचे गिरते हुए हम न देखें, यही सोचकर सन्ध्या-समय कृतज्ञ नलिनी अपने कमलरूपी नेत्रों को मूँद लेती है। उपकारी मित्र की विपत्ति वास्तव में नहीं देखनी चाहिये।

सन्ध्या-कालीन सूर्य पर क्या ही अच्छी उक्ति है—

महद्भिरोघैस्तमसामभिद्रुतो भयेऽप्यसंमूढमतिः क्रमन् क्षितौ।
प्रदीपवेषेण गृहे गृहे स्थितो विखण्ड्य देहं बहुधेन भास्करः॥

सन्ध्या समय सूर्य अन्धकार के समूह से पीछा किया जाता है। भयभीत होने पर भी वह किंकर्तव्य-विमूढ़ नहीं होता। शीघ्र ही अपने शरीर के बहुत से टुकड़े करके प्रदीप के वेष में घर-घर में ठहर जाता है। सूर्य क्या ही चालाक है। शत्रु को ठहरने की जगह ही नहीं मिलती। सूर्य ही की जीत बनी रहती है—अन्धकार से कुछ करते-धरते नहीं बनता।

सूर्य के अस्त होने से क्या ही अच्छा उपदेश मिल रहा है—

प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ विफलत्वमेति बहुसाधनता।
अवलम्बनाय दिनभर्तुरभून्न पतिष्यतः करसहस्रमपि॥

भाग्य के उलटा हो जाने पर बहुत सामग्री भी विफल हो जाती है। प्रमाण यह है कि जब सूरज गिरने लगता है, तब उसके हजारों किरण हाथ—भी उसे अवलम्ब नहीं देते, जिससे वह गिरने से बच जाय। बेचारा गिरही जाता है। माघ कवि के इस रमणीय पद्य में 'विधौ' पद में श्लेष है। इसका अर्थ है विधु-चन्द्रमा तथा विधि-भाग्य। जब चन्द्रमा प्रतिकूल—पूरब—

दिशा में उदय लेता है तब सतत प्रयत्न करने पर भी सूर्य गिर जाता है, अपने को गिरने से बचा नहीं सकता। उसी प्रकार भाग्य के उलटा होने पर मनुष्य का पतन हो ही जाता है। विपुल सामग्री भी विकल हो जाती है। दृष्टान्त बहुत अच्छा है।

डूबते हुए सूर्य पर क्याही अच्छी कल्पना है—

अनुरागवन्तमपि लोचनयोर्दधतं वपुः सुखमतापकरम्।
निरकासयद्रविमपेतवसुं वियदालयादपरदिग्गणिका॥

पश्चिम दिशा वेश्या है। सूर्य अपना प्रियतम है—यार है। सायकाल को उसका शरीर लाल हो जाता है; उस समय वह सन्ताप नहीं पैदा करता, नेत्रों को सुख देता है। ऐसा सायं-कालीन सूर्य पश्चिमी दिशा का यार जान पड़ता है। वह अनुराग-युक्त है—नेत्रों को सुख देने वाला है, हृदय को आनन्द पहुँचाता है, परन्तु इस समय वह है अपेत-वसु (किरण-रहित तथा धन-हीन), अतः वह उसे अपने घर से निकाल बाहर कर रही है। वेश्या का यार कितना ही सुन्दर क्यों न हो, कितना ही सुखद क्यों न हो, यदि वह धन-हीन है, तो वेश्या उसे पसन्द नहीं करती—घर से निकाल देती है। साँझ के समय डूबने वाले सूर्य पर कितनी अच्छी कल्पना है। 'अपेतवसु' में श्लेष श्लाघनीय है! निर्धनों के लिये वेश्या नहीं बनी है—ठीक है, 'धनहीन मनुष्य तजे गनिका।'

सूर्य की सन्यासी से उपमा कितनी रमणीय और स्वाभाविक है—

आदाय दण्डं सकलासु दिक्षु योऽयं परिभ्राम्यति भानुभिक्षुः।
अब्धौ निमज्जन्निव तापसोऽयं सन्ध्याभ्रकाषायमधत्त सायम्॥

भानु रूपी सन्यासी किरणरूपी दण्ड को धारण कर सकल

दिशाओं मे घूमकर शाम को पश्चिम समुद्र में स्नान करने के लिये सन्ध्या काल के लाल बादल रूपी काषाय वस्त्र को धारण कर जा रहा है। आशय है कि जिस प्रकार काषाय वस्त्र पहनने वाला सन्यासी दण्ड लेकर चारों ओर घूमकर श्रान्ति के कारण समुद्र मे स्नान करने के लिए उतरता है, उसी प्रकार सन्ध्या के समय सूरज चारों दिशाओं मे घूमकर लाल लाल बादलों के रूप में काषाय वस्त्र पहनकर समुद्र मे स्नान करने के लिए उतर रहा है। क्या ही अच्छा भाव है !

सूर्यास्त पर कैसी विचित्र उक्ति है—

यासवस्तुरगरत्नममुष्मात्प्राप दास्यति ममापि कदाचित् ।
आशयेति जलराशिमयासीद्भानुरश्वपरिवर्तधियेव ॥

इन्द्र ने समुद्र से उच्चैःश्रवा घोडा पाया है, शायद मुझे भी यह एक घोडा दे, इस आशा से सूर्य साँझ को अपना घोडा बदलने के विचार से समुद्र के पास जा रहा है। कवि लोग प्राय सूर्य के डूबने को पश्चिम समुद्र मे घुसना कहते हैं। चलते-चलते सूरज के घोडे थक गये हैं। अत नये घोडे को पाने की आशा से सूरज समुद्र के पास सायकाल मे जा रहा है। कारण नितान्त नवीन है।

डूबते हुए सूर्य पर किसी कवि की क्या ही मधुर कल्पना है—

किं नु कालगणनापतेर्मषीभाण्डमर्यमनपुर्हिरण्मयम् ।
तत्र यद्विपरिवर्तिताननं लिम्पति स्म धरणीं तमोमषी ॥

सोने-सा पीले वर्ण वाला सूर्य, काल रूपी गणक—गणना करने वाले ज्योतिषीजी—की सोने की दावात मालूम पड़ रहा है। क्योंकि

उसे उलट देने पर अन्धकार रूपी स्याही सारी पृथ्वी पर पुत जाती है, सर्वत्र अन्धेरा हो जाता है। अत निश्चय ही सूर्य सुनहली दावात है। जिस प्रकार दावात के उलट देने पर स्याही गिरकर कागज को काला बना डालती है, उसी प्रकार सूर्य के गिरने पर समस्त ससार अन्धकार से काला हो गया है। अत अन्धकार काली स्याही जान पड़ता है तथा सूरज दावात। कल्पना बडी अनूठी है।

यह कल्पना क्या ही अपूर्व है—

एतद् बभ्रुकचानुकारि किरण राजद्रुहोऽह्न शिर-
श्छेदाभं नियतः प्रतीचि निपतत्यब्धौ रवेर्मण्डलम्।
एषापि द्युरमा प्रियानुगमनं प्रोद्दामकाष्ठोत्थिते
सन्ध्याग्नौ विनिधाय तारकमिषाज्जाताऽस्थिशेषस्थितिः।

भूरे बालो के समान किरणो को धारण करने वाला सूर्य-मण्डल राजद्रोही (चन्द्रद्वेषी) दिवस का कटा हुआ सिर मालूम हो रहा है। यह आकाश से पश्चिम समुद्र में गिर रहा है। पति के मर जाने पर आकाश रूपी नारी ने प्रचण्ड काठों से धधकती हुई सन्ध्या की आग में अपने को जला दिया—पति का अनुसरण किया—उसका सर्वाङ्ग जल गया है, केवल हड्डियाँ बच गई है। वे ही उसकी बची खुची हड्डियाँ ताराओं के रूप मे दिखाई दे रही हैं। जिस प्रकार किसी राजद्रोही का सिर काटा जाता है, उसी प्रकार राज- (चन्द्र) द्रोही दिवस का कटा हुआ लाल सिर सूरज के रूप मे सायकाल समुद्र मे डूब रहा है। साराश यही है कि सायकाल को सूरज की लालिमा अब बिल्कुल नष्ट हो गई है। आकाश मे तारिकाएँ चमक रही हैं। कवि की

प्रौढ कल्पना अतीव प्रशंसनीय है। श्रीकण्ठ चरित में लिखा है कि प्रसिद्ध विद्वान् अलंकार' की सभा के पण्डितों ने पहले दो चरणों की पूर्ति के लिये कविवर मङ्खक को समस्या के रूप में दिया था। वहीं बैठे ही बैठे अन्तिम दोनों चरणों की रचना कर मङ्खक ने उसकी तत्काल ही पूर्ति कर दी थी।

> खगा वासोपेताः सलिलमवगाढो मुनिजनः
> प्रदीप्तोऽग्निर्भाति प्रविचरति धूमो मुनिवनम्।
> परिभ्रष्टो दूराद् रविरपि च संक्षिप्तकिरणो
> रथं व्यावर्त्यासौ प्रविशति शनैरस्तशिखरम्॥

सायकाल का सुन्दर दृश्य है। चिड़ियाँ अपने घोसलों में चली गई। मुनिजन जल में स्नान कर चुके। सन्ध्याकाल में अग्निहोत्र के लिये जलाई हुई अग्नि शोभित हो रही है। धुआँ मुनियों के वन में घूम रहा है। सूर्य ने भी दूर से उतर कर अपनी किरणों को बटोर लिया है और रथ को लौटाकर धीरे धीरे अस्ताचल पर घुसे चले जाते हैं। सन्ध्याकाल का नैसर्गिक वर्णन है। प्रसादगुण से पद्य पूरा भरा है।

> आदाय दण्डं सकलासु दिक्षु योऽयं परिभ्राम्यति भानुभिक्षुः।
> अब्धौ निमज्जन्निव तापसोऽयं सन्ध्याभ्रकाषायमधत्त सायम्॥

यह भानुरूपी भिक्षु (सन्यासी) दण्डलेकर सब दिशाओं में दिनभर घूमता रहा है। अब सायकाल को जलाशय में स्नान करने के लिये मानो यह सन्ध्या काल के लाल गगनमण्डल रूपी काषाय वस्त्र को ऊपर (अपने शरीर के ऊपरी भाग पर) धारण

कर रहा है। सूर्य के अस्त होने के समय का यह रक्त आकाश नहीं है, बल्कि किसी स्नानार्थी सन्यासी का रक्त कापाय रखा हुआ जान पड़ता है। क्या ही मौलिक सूक्ति है ? एक पद्य में कविवरने सन्ध्याकालीन रक्त आकाश का बड़ा विलक्षण कारण ढूढ निकाला है। उनका कहना है कि अस्ताचल रूपी शयनालय के पास यामान्त की सूचना देने के लिये बॉग देनेवाले मुर्गों के समूह के कारण पश्चिम दिशा उनकी शिखा की ललाई के कारण लाल हो रही है। सूझ है अनूठी, यद्यपि कुछ अव्यक्त सी है।

सूर्यास्त के विषय में कवयित्री की सुन्दर कल्पना है—

एके वारिनिधौ प्रवेशमपरे लोकान्तरालोकनं
केचित् पावकयोगितां निजगदुः क्षीणेऽन्हि चण्डार्चिषः।
मिथ्या चैतदसाक्षिकं प्रियसखि प्रत्यक्षतीव्रातपं
मन्येऽहं पुनरध्वनीनरमणीचेतोऽधिशेतेरविः॥

कोई कहता है कि सायकाल मे सूर्य भगवान् समुद्र में समा जाते हैं, किसी की राय है कि वे दूसरे लोक को चले जाते हैं। परन्तु हे प्यारी सखि ? मुझे यह सब झूठ मालूम होता है। पूर्वोक्त घटना का कोई साक्षी नहीं है। पथिकों की नारियों का चित्त वियोग जनित बाधा से अधिक सन्तप्त है। मालूम होता है कि सूर्य रात को इसी कोमल चित्त में शयन करने के लिए प्रवेश करता है जिससे उसमे असह्य गर्मी पैदा हो जाती है। प्रोषित पतिका नायिकाओं का हृदय रातको पति वियोग से अधिक सन्तप्त हो जाता है। साधारण सी पर बात कैसे अनोखे ढग से कही गई है।

चन्द्र-चारुता

चन्द्र

चन्द्रमा के कलङ्क पर किसी की क्याही अच्छी उक्ति है—

अङ्कं केऽपि शशंकिरे जलनिधेः पंकं परे मेनिरे
सारङ्गं कतिचिच संजगदिरे भूच्छायमैच्छन् परे।
इन्दौ यद्दलितेन्द्रनीलशकलश्यामं दरीदृश्यते
तत्सान्द्रं निशि पीतमन्धतमसं कुक्षिस्थमाचक्ष्महे ॥

चन्द्रमा मे इन्द्रनीलमणि के टुकडे के समान जो श्यामता दिखाई पडती है, उसे कोई चिह्न बतलाता है और उसे कोई लोग समुद्र का कीचड कहते है। कोई इसे मृग मानते है, तो कोई पृथ्वी की छाया कहना पसन्द करते हैं। परन्तु मुझे मालूम पडता है कि चन्द्रमा रात के समय जो घने अन्धकार को पी लेता है, वही उसके पेट मे काला दाग दिखाई दे रहा है।

किसी राजा की स्तुति करता हुआ कोई कवि चन्द्र कलङ्क पर एक अच्छी कल्पना करता है।

यदेतच्चन्द्रान्तर्जलदलवलीला वितनुते
तदाचष्टे लोकः शशक इति नो मा प्रति तथा।
अहं त्विन्दुं मन्ये त्वदरिविरहाक्रान्ततरुणी-
कटाक्षोल्कापातव्रणकिणकलङ्काङ्किततनुम् ॥

चन्द्रमा मे जो कुछ बादल के समान काला दिखाई पड़ता है, उसे ससार मृग कहता है, परन्तु मुझे यह ठीक नहीं जान

पड़ता। राजन्! मैं तो मानता हूँ कि विरह से तप्त तुम्हारे शत्रुओं की नारियों ने चन्द्रमा की ओर जो उल्कारूप कटाक्ष फेंका उसीके घाव का यह चिह्न है, मृग वगैरह कुछ नहीं है। राजा ने उनके पतियों को मार डाला है। चन्द्रोदय होने पर विरह द्विगुण हो जाता है। अतः रिपु-स्त्रियों ने चन्द्रमा की ओर जो कटाक्ष-पात किया, उसी कटाक्ष से यह घाव हो गया है। उसी का यह चिह्न है।

शंके शशाङ्के जगुरङ्कमेके पङ्कं कुरङ्गप्रतिबिम्बिताङ्कम्।
धूमञ्च भूमण्डलमुद्धताग्नेर्वियोगजातस्य मम प्रियायाः॥

कोई विरही चन्द्रमा को देख कर कह रहा है कि कोई इस काले दाग को कलङ्क मानता है, तो कोई इसे सटा हुआ कीचड़ कहता है। कोई इसे चन्द्रमा का वाहन मृग मानता है, तो कोई इसे पृथ्वी की छाया कहता है; परन्तु मुझे मालूम पड़ता है कि मेरी प्रिया के विरहानल का धुआँ चन्द्रमा में चिपका हुआ है। वाह रे विरहाग्नि! उसका धूम इतना अधिक हुआ कि आकाश तक पहुँच गया। वही कलङ्क के रूप में दिखाई पड़ता है।

किसी भक्त कवि की उक्ति क्या ही अच्छी है!

नेदं नभोमण्डलमम्बुराशिर्नैताश्च तारा नवफेनभङ्गाः।
नायं शशी कुण्डलितः फणीन्द्रो नायं कलङ्कः शयितो मुरारिः॥

यह नीला आकाश नहीं है; यह समुद्र है। ये ताराएँ नहीं हैं; किन्तु फेन के नये टुकड़े हैं। यह चन्द्रमा नहीं; वरं कुण्डलित सर्पराज शेष हैं। चन्द्रमा में यह काला धब्बा नहीं है; यह तो विष्णु भगवान् सोये हुए हैं।

चन्द्रिका ने क्या ही विचित्र भ्रम पैदा कर दिया है—

सुग्धा दुग्धधिया गवां विदधते कुम्भानधो वल्लवाः
कर्णे कैरवशङ्कया कुवलयं कुर्वन्ति कान्ता अपि।
कर्कन्धूफलमुच्चिनोति शबरी मुक्ताफलाकाङ्क्षया
सान्द्रा चन्द्रमसो न कस्य कुरुते चित्तभ्रमं चन्द्रिका॥

घनी चाँदनी ने किसको भ्रम में नहीं डाल दिया है। बेचारे ग्वाले दूध के विचार से गायों के स्तनों के नीचे घड़े रख रहे हैं। स्त्रियाँ भी कैरव की शंका से नील कमल को कानों में पहन रही हैं। भिल्लनी बेर को मोती जानकर चुन रही है। चाँदनी में सब कुछ सफ़ेद ही-सफ़ेद दिखाई दे रहा है। इसीसे ऐसा भ्रम सभी को हो रहा है।

रात को उगते हुए चन्द्रमा पर क्या ही अच्छा रूपक बाँधा है—

अङ्गुलीभिरिव केशसंचयं संनिगृह्य तिमिरं मरीचिभिः।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी॥

जिस प्रकार कोई प्रेमी अपनी अङ्गुलियों से केशसमूह को हटाकर आँखें बन्द की हुई नायिका का मुँह चूमता है, उसी प्रकार चन्द्रमा अपने किरणों से अन्धकार को दूर कर कमलरूपी नेत्रों को बन्द करने वाली रात्रि का मुख चूम रहा है। वाह! चन्द्रमा कितना अनुरागी है।

नीचे की उक्ति कैसी अनूठी है—

उद्यन्छशी तरुणभास्करकान्तिचौरः
स्पर्शेन शीतकरलालितया प्रदोषे।

ज्ञातोऽर्धसुप्तनलिनीप्रियया सलज्जः
पाण्डुत्वमाप रसभादिव मन्मथार्तः ॥

कवि कल्पना कर रहा है, कि उगते हुए चन्द्रमा ने सूर्य की शोभा चुरा ली—स्वयं लाल बन गया—और सूर्य की भार्या कमलिनी के पास सम्भोग करने गया, परन्तु सन्ध्या को आधी सोई हुई कमलिनी ने ठंढे किरणों से जान लिया कि यह मेरा पति चण्ड रश्मि सूर्य नहीं है। इस पर बेचारा कामार्त चन्द्रमा लाज के मारे पीला पड़ गया। इसीसे पीला दीख रहा है। कैसी अच्छी कल्पना है!

चन्द्रमा पर भिन्न कल्पनाओं का एकत्रीकरण कैसी अच्छा है—

ओंकारो मदनद्विजस्य गगनक्रोडस्य दंष्ट्राङ्कुर-
स्तारामौक्तिकशुक्तिरन्धतमसः स्तम्बेरमस्याङ्कुशः।
शृङ्गारार्गलकुञ्चिका विरहिणीप्राणच्छिदे कर्तरी
सन्ध्यावारवधू नखक्षतिरसौ चान्द्री कला पातु वः ॥

द्वितीया का चन्द्रमा टेढ़ा होता है। अतः कल्पना करता है कि ब्राह्मण कामदेव का यह ॐकार है। आकाश रूपी शूकर के दाँत का अङ्कुर है, तारा रूपी मोतियों की सितुही है, अन्धकार रूपी हाथी का अंकुश है, शृंगाररूपी अर्गला की कुंजी है, विरहिनियों की जान मारने की छुरी है और सन्ध्या रूपी वेश्या का नख-प्रहार है। ये कल्पनायें बड़ी कमनीय हैं। 'ॐ' का आकार टेढ़ा होता है। इसलिए दूज का चन्द्रमा ओंकार कहा गया है। 'ओंकार' शब्द का अर्थ आरम्भ होता है। कामोद्दीपक होने से

भी चन्द्रमा मदनरूपी ब्राह्मण का ओंकार माना गया है। इसी प्रकार प्रत्येक रूपक मे आकार गत साम्य है तथा अर्थगत भी सादृश्य है। रूपकों की यह रमणीय माला वास्तव म मनोहारिणी है।

यह कल्पना कितनी विचित्र है—

निर्मले सलिलकुण्डसुनीले सचरन् सितरुचिः शनकैः खे।
तत्र कालगणकेन नियुक्ता रात्रिमानघटिकेव विभाति ॥

यह चन्द्रमा रात के परिमाण का मापन की घडी है। जल भरे कुण्डों के समान नीले और निर्मल आकाश में सफेद कान्ति वाला चन्द्रमा धीरे धीरे घूम रहा है। मालूम पडता है कि समयरूपी ज्योतिषी ने रात के परिमाण को मापने क लिय घडी बनाकर उसे वहाँ रख दिया है। ठीक है, जलघडी भी तो ऐसी ही होती है।

चन्द्रमा की श्यामता के कारण की खोज किसी ने यह की है—

अन्धकारगरलं यतो जगन्मोहकारि भृशमत्ति नित्यशः।
उज्ज्वलं जठरमोषधीपतेरञ्जनाभमभवत्ततः प्रिये ॥

चन्द्रमा रोज-रोज ससार मे मोह पैदा करने वाले अन्धकार रूपी विष को बहुत ज्यादा खाता है। अत उसका उजला भी पेट विष के मारे काला हो गया है। तीव्र विष के खाने पर उसी समय सब अग काले पड जाते हैं। इसी कारण अन्धकार रूपी विष पीने से चन्द्रमा का हृदय काला पड गया है।

चन्द्रोदय होने पर कमलिनी के सकुचाने का क्या अच्छा कारण है—

ख्याता वयं समधुपा मधुकोपवत्य-
श्चन्द्रः प्रसारितकरो द्विजराज एषः।

अस्मत्समागमकृतोऽस्य पुनर्द्वितीयो
मा भूत्कलंक इति संकुचिता नलिन्यः ॥

हम लोगों के पास मधु का खजाना है और मधु पीने वाले भौंरे सदा हमारे साथ रहते हैं। यह चन्द्रमा अपना हाथ फैलाये हुए है। हम लोगो के साथ समागम करने से इसे दूसरा भी कलक न लगे, इससे बेचारी कमलिनी सकुचित हो जाती है। अहिल्या के साथ का कलक तो लगा ही हुआ है, कहीं हमारे साथ से दूसरा भी कलक न पैदा हो जाय, इसी कारण कमलिनी चन्द्रोदय के समय बन्द हो जाती है। नलिनी का यह आचरण कितना बुद्धिपूर्वक है।

इदं व्योमसरोमध्ये भाति चन्द्रसितोत्पलम्।
मलिनान्तर्गतो यत्र कलङ्को भ्रमरायते ॥

आकाश तालाब है; उसके भीतर चन्द्रमा सफेद कमल है और चन्द्रमा का कलक भौंरा है, जो सुगन्ध से चन्द्रमा के पास आया है। रूपक कितना अच्छा है।

उगते हुए चन्द्रमा पर कवि,कैसा अच्छा रूपक बाँध रहा है—

अत्यन्तोन्नतपूर्वपर्वतमहापीठे हरस्पर्धया
दूरो दञ्चितधूमसंनिभतमस्तारास्फुलिङ्गाकुलम्।
नूनं पञ्चशरोऽकरोच्छिखिपात्स्वं ज्वाललिङ्गं यतो
गर्वाच्छर्वपरान् दहेन्मुनिवरान् सर्वानखर्वांशुभिः ॥

कवि कहता है कि अत्यन्त ऊँचे पूर्वाचल के शिखर पर धुआँ

रूपी अन्धकार तथा तारारूपी अग्नि-कणों को दूर से ही प्रकट कर कामदेव ने शिवजी के द्वेष से शिव की पूजा मे लगे हुए सब मुनियो को तीव्र किरणो से जलाने के लिये लाल लाल आग की ज्वाला के समान चन्द्रमा को प्रकट किया है। चन्द्रमा के उदय के समय अन्धकार धूम के समान है, उगे तारे ही आग के कण है। चन्द्रमा पहले रग मे लाल होता है। अत मालूम होता है, कि धुआँ और चिनगारियो के साथ यह बडा भारी आग का गोला है। कामदेव ने शिवजी के भक्तों को जलाने के लिये इसे पैदा किया है। कल्पना खूब प्रौढ है।

चाँदनी ने क्या ही मनोहर भ्रम पैदा कर दिया है—

कपोले मार्जारः पय इति करॉल्लेढि शशिनः
तरुच्छिद्रप्रोतान्बिसमिति करी संकलयति।
रतान्ते तल्पस्थान् हरति वनिताप्यशुंकमिति
प्रभामत्तश्चन्द्रो जगदिदमहो विप्लवयति॥

बिलाव अपने गालों पर पडी हुई चन्द्रमा की किरण को दूध समझ कर चाट रहा है। पेड के छेदों से आती हुई किरणों को हाथी मृणाल समझ रहा है। सम्भोग के अन्त मे बिस्तर पर पडी किरणों को वनिता कपडा समझ कर ले रही है। कान्ति से मतवाले चन्द्रमा ने ससार को भ्रम मे डाल रखा है। क्या खूब!

कल्पना क्या ही अनूठी है—

ताराप्रसूननिचयेन निशास्मरस्य
पूजां विधाय गगनाङ्गणपीठपृष्ठे।

ज्योत्स्नाछलेन किरतीन्दु समुद्गिकायाः
निःशेषकामुकवशीकृतिचूर्णमुष्टीः ॥

रात्रि आकाशरूपी आँगन के पीढे पर तारा रूपी फूलों को चुनकर कामदेव की पूजा कर रही है और चन्द्रमा रूपी पेटी से चाँदनी के व्याज से सम्पूर्ण कामी जनों को वश में करने वाले चूर्ण की मुट्ठी भर कर फेंक रही है। छिटकती चाँदनी कामी जनों के मन को मोह लेती है, मानो वह वशीकरण चूर्ण है। रूपक कितना अच्छा बाँधा गया है!

किसी विरही की उक्ति कितनी कल्पनामयी है—

मन्येऽस्तसमये प्रविश्य सहसा वारांनिधेरन्तरं
चन्द्रच्छद्मसमाश्रितः पुनरयं चण्डांशुरेवोद्गतः।
येनौर्वानलसंगमाद्दशगुणीभूतप्रतापोद्गमो
मध्येऽङ्गारकलंकितो विरहिणां दग्धुं मनांस्युद्गतः॥

विरही कहता है कि मुझे मालूम होता है, सूर्य ही सन्ध्या के समय समुद्र में सहसा जाकर चन्द्र का रूप धारण कर फिर उग आया है। समुद्र के भीतर बडवानल के साथ से इसका गर्मी दस गुनी अधिक हो गई है। इसके बीच में अङ्गार के कारण कालापन दिखाई दे रहा है। ज्ञात होता है कि अपने गर्म किरणों से विरहीजन के मन को जलाने के लिये फिर सूर्य ने उदय ग्रहण किया है। बेचारे चन्द्रमा में इतनी गर्मी कहाँ। गर्मी तो सूर्य ही में है, अतः यह चन्द्रमा नहीं, सूर्य है।

परम्परित रूपक से सम्पन्न यह उक्ति कितनी सयुक्तिक है:—

जटाभाभिर्भाभिः करधृतकलङ्काक्षवलयो
वियोगिव्यापत्तेरिव कलितवैराग्यविशदः ।
परिप्रेङ्खत्तारापरिकरकपालाञ्चिततले शशी
शशी भस्मापाण्डुः पितृवन इव व्योम्नि चरति ॥

यह चन्द्रमा जटा के सामन अपनी प्रभा युक्त किरणों से कलंक रूपी रुद्राक्ष की माला धारण कर रहा है। सदा वियोगियों को सताते रहने से इसे वैराग्य उत्पन्न हो आया है। ताराओं के समान कपाल से युक्त, श्मशान के समान, आकाश मे अपने शरीर में भस्म लगाकर यह शुभ्र चन्द्रमा वैरागी बन घूम रहा है। जिसे वैराग्य उत्पन्न हो जाता है, वह भी तो अपने शरीर पर भस्म पोतकर हाथ मे रुद्राक्ष की माल लेकर मुण्ड-मण्डित श्मशान भूमि में विचरण किया करता है। उसी प्रकार वियोगिनियों को सतत जलाने के कारण संजात-वैराग्य (अर्थात् लालिमा-युक्त) होकर ताराविभूषित आकाश में यह शुभ्र शरीर चन्द्रमा घूम रहा है। कवि की यह सूक्त वास्तव में अनूठी है! कल्पना क्या ही अनुपम है!

उदय के समय पूर्ण चन्द्रमा की ललाई का क्या अच्छा कारण किसी ने ढूँढ़ निकाला है—

अद्यापि स्तनतुङ्गशैलशिखरे सीमन्तिनीनां हृदि
स्थातुं वाञ्छति मान एष धिगिति क्रोधादिवालोहितः ।
उद्यन्दूरतरप्रसारितकरः कर्षत्यसौ तत्क्षणात्
फुल्लात्कैरवकोशनिःसरदलिश्रेणीकृपाणं शशी ॥

क्या मेरे उदय होने पर भी मान स्त्रियों के हृदय में ठहरना चाहता है? मुझे धिक्कार है! इस कारण क्रोध के मारे लाल होकर चन्द्रमा चारों ओर अपने करों (किरणों) को फैला रहा है। चन्द्रोदय होने से कुमुद के भीतर बन्द भौंरे फूल खिलने पर झुण्ड के झुण्ड निकल रहे हैं। मालूम पड़ता है, कि क्रोधी चन्द्रमा भ्रमरावली रूपी अपनी तलवार को स्त्रियों के मारने के लिये अपने हाथ में खींच रहा है—उक्ति क्या ही बढ़िया है!

कैसी अच्छी कल्पना है—

यातस्यास्तमनन्तरं दिनकृतो वेषेण रागान्वितः
स्वैरं शीतकरः करं कमलिनीमालिङ्गितुं योजयन्।
शीतस्पर्शमनाप्य सम्प्रति तया मुक्ते मुखाम्भोरुहे
हास्येनैव कुमुद्वतीवनितया वैलक्ष्यपाण्डूकृतः॥

सूर्य के डूब जाने पर चन्द्रमा उसके लाल कपड़ों को पहन कर सूर्य की स्त्री कमलिनी को आलिंगन करने के लिये अपना हाथ फैलाता है। कमलिनी शीतलता पा कर अपने मुख कमल को बन्द कर लेती है। पति के ऐसे परस्त्री-गमन तथा तिरस्कार को देखकर कुमुदिनी हँसने लगती है, अतः लाज के मारे चन्द्रमा पीला पड़ जाता है।

चन्द्रमा में दीख पड़नेवाले कलंक के विषय में श्रीहर्ष ने बड़ी अनूठी बातें कही हैं। सूक्तियाँ यहाँ दी जाती हैं—

यदस्य यात्रासु बलोद्धतं रजः स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम।
तदेव गत्वा पतितं सुधाम्बुधौ दधाति पङ्कीभवदङ्कतां विधौ॥

विजय यात्रा के लिये जब राजा की सेनायें चलीं, तब उनके चलने से उनके प्रतापानल के धूएँ की तरह काली काली धूलि चारों ओर छा गई है। सागर में भी वही धूलि जाकर गिरी जिससे मथा गया चन्द्रमा आज भी अंक के रूप में उसी पंक को धारण कर रहा है।

हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा।
कृतमध्यबिलं विलोक्यते धृतगम्भीरखनीखनीलिम॥

दमयन्ती के मुख की रचना करने के लिये ब्रह्मा ने चन्द्र मण्डल के सार भाग को काट लिया है। अतः चन्द्रमा के मध्य में जो छिद्र बन गया है उसी के द्वारा अत्यन्त नील आकाश की नीलिमा दीख पड रही है। ये कलंक क्या है? नभोमण्डल की नीलिमा दिखाने वाले बिल हैं।

उदयति हि शशाङ्कः कामिनीगण्डपाण्डु-
र्ग्रहगणपरिवारोराजमार्गप्रदीपः।
तिमिरनिकरमध्ये रश्मयो यस्य गौराः
स्रुतजल इव पङ्के दुग्धधाराः पतन्ति॥

चन्द्रोदय का वर्णन है। कामिनी के गण्डस्थल की तरह श्वेत रंगवाला, नक्षत्रों के परिवार के साथ राजमार्ग का प्रदीप, यह चन्द्रमा उदय हो रहा है। उसकी सफेद किरणें जब अन्धकार के समूह पर गिरती हैं, तो मालूम पडता है कि (काले) कीचड में, जिससे पानी चू गया है, दूध की (सफेद) धाराएं गिरती हों। काले अन्धकार समूह में चन्द्र किरणों का क्या ही विचित्र वर्णन है।

तपोवन का सुन्दर वर्णन यथार्थवाद से मण्डित है—

विस्रब्धं हरिणाश्चरन्त्यचकिता देशागतप्रत्यया-
वृक्षाः पुष्पफलैः समृद्धविटपाः सर्वे दयारक्षिताः ।
भूयिष्ठं कपिलानि गोकुलधनान्यक्षेत्रवत्यो दिशो
निःसन्दिग्धमिदं तपोवनमयं धूमो हि बह्वाश्रयः ॥

स्थान की विशेषता से विश्वास करने वाले हरिण लोग बिना चकित हुये घास चर रहे हैं। वृक्षों की शाखायें फूल तथा फलों से लदी हुई हैं। ऋषियों ने दया करके इनकी रक्षा की है। कपिल रंग के गायों के झुण्ड विचर रहे हैं। खेत कहीं नजर नहीं आते हैं। बहुत स्थानों से धूम निकल रहा है। अतएव निःसन्देह यह तपोवन ही है।

पहाड़ी नदी

अपशङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिताश्चलिताः पुरः पतिमुपेतुमात्मजाः ।
अनुरोदितीव करुणेन पत्रिणां विरुतेन वत्सलतयैपनिम्नगाः॥

पहाड़ी नदियाँ कलकल शब्द करती हुई बह रही हैं। ये निडर होकर उसकी गोदी में लोट पोट किया करती हैं। अतः वे रैवतक की बेटियाँ हैं। आज वे अपने पति समुद्र से मिलने के लिये जा रही हैं, इस कारण रैवतक चिड़ियों के करुण स्वर के द्वारा, जान पड़ता है कि प्रेम के कारण रो रहा है। कन्या के पतिगृह जाने के समय पिता का हृदय पिघल जाता है, वह कितना भी कठोर हो द्रवीभूत अवश्य हो जाता है।

"पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः"

अतः रैवतक भी पक्षियों के करुण स्वर से कन्याओं के लिए रो रहा है। ठीक है, पिता का हृदय कोमल होता ही है।

—:o:—

विरहवर्णन

परदेश जाता हुआ पति अपनी दयिता से कह रहा है—

स्मर्तव्योऽहं त्वया कान्ते ! न स्मरिष्याम्यहं तव ।
स्मरणं चेतसो धर्मस्तच्चेतो भवता हृतम् ॥

हे प्रिये, मेरी याद करना, मैं तुम्हें याद नहीं करूंगा, क्योंकि चित्त स्मरण करने वाला है और उसी चित्त को तुमने चुरा लिया है। चित्त रहता, तो याद करता, परन्तु बिना उसके मैं असहाय हूँ, क्या करूँ।

प्रोष्यत् पति तथा उसकी भार्या की यह बात चीत कैसी मर्म स्पर्शी है—

स्मर्तव्या वयमिन्दुसुन्दरमुखि ! प्रस्तावतोऽपि मया
सत्यं नाम यदि प्रदास्यति निधिर्जातिस्मरत्वं मम ।
एकस्मिन्नपि जन्मनि प्रियतमे जातिस्मरत्वं कथं
प्राणाः पान्थ ! समं त्वयैव चलिताः क्वद्यापि जन्मैकता ॥

पति कहता है, कि प्यारी कभी कभी प्रस्ताव में भी मुझे याद करना। स्त्री—हाँ, मैं सचमुच याद करूँगी, यदि ब्रह्मा मुझे पूर्व-जन्म की जाति के याद रखने की शक्ति दे। पति—एक ही जीवन में जाति स्मरण कैसे हो सकती है ? स्त्री—हे पथिक ! तुम्हारे साथ ही मेरे प्राण निकल गये—चल बसे—क्या अभी एक ही जन्म है। आशय है, कि तुम्हारे जाने के समाचार सुन कर ही मेरे प्राण निकल गये। किस खूबी के साथ यह बात कही गई है ।

प्रोष्यत्पतिका भार्या की यह उक्ति कैसी मोड़ है—

लोलैर्लोचनवारिभिः सशपथैः पादप्रणामैः परै-
रन्यास्ताः विनिवारयन्ति कृपणाः प्राणेश्वरं प्रस्थितम् ।
पुण्याहं व्रज मङ्गलं सुदिवसः प्रातः प्रयातस्य ते
यत्स्नेहोचितमीहितं प्रिय ! मया तन्निर्गतः श्रोष्यसि ॥

स्त्री कहती है कि वे दीन स्त्रियाँ दूसरी हैं, जो विदेश जाते हुए पति को अश्रुधारा से तथा शपथ-युक्त प्रणामों से रोक देती हैं—आज का दिन मेरे लिये पुण्यमय है; क्योंकि आज सवेरे तुमने प्रस्थान किया है । हे प्रिय ! घर से निकलने पर मेरे स्नेह के योग्य कर्तव्य को सुनोगे, अर्थात्—तुम्हारे जाते ही मेरी मृत्यु हो जायगी ।

प्रोष्यत्पतिका का कैसा अच्छा वर्णन है—

यामीति प्रियपृष्टायाः प्रियायाः कण्ठवर्तिनोः ।
वचोजीवितयोरासीत् पुरो निःसरणे रणः ॥

पति ने कहा कि मैं जाता हूँ । यह सुनते ही प्यारी के कण्ठवर्ती वचन तथा जीवन में पहले निकलने के लिये युद्ध होने लगा; अर्थात्—इतनी बात सुनते ही नायिका के प्राण भावी विरह से निकलने के लिये तैयार हो गये । उसे कुछ उत्तर देते न बना ।

धन के लिये विदेश जाते हुए नायक से सखी कहती है—

या बिम्बौष्ठरुचिः क्व विद्रुममणिः स्वप्नेपि तां लब्धवान्
हासश्रीसदृशैस्तपोभिरपि किं मुक्ताफलैर्भूयते ।

तत्कान्तिः शतशोऽपि वह्निपतनैः हेम्नः कुतः सेत्स्यति
त्यक्त्वा रत्नमयीं प्रयासि दयिता कस्मै धनायाधम ! ॥

बिम्बफल के समान होठों वाली उस नायिका के सामने मूँगे की बात क्या है। क्या मोती उसकी हँसी की शाभा का सामना कर सकता है ? हजारों बार आग मे तपाये जाने पर भी क्या सोना उसकी कान्ति को पा सकता है ? अत रत्न भूत अपनी प्रिया को छोड, किस धन के लिये विदेश जा रहे हो ? रत्नों का स्त्री के शरीर मे क्या अच्छा निवेश है—होठ मूगे हैं, हास्य शोभा मोती के समान हैं, कान्ति सोने से बढकर है। बस, सब रत्न तो घर ही पर उपस्थित है, विदेश यात्रा की आवश्यक्ता क्या है ?

वियोगिनी नायिका की उक्ति कैसी चमत्कार पूर्ण है

अनलस्तम्भनविद्या सुभग ! भवान्नियतमेव जानाति ।
मन्मथशराग्नितप्ते हृदि मे कथमन्यथा वससि ॥

हे सुन्दर ! आप अवश्य ही आग को स्तम्भन करनेवाली विद्या जानते हैं—आग को बाँध सकते हैं, जिससे वह जला नहीं सकती, नहीं तो कामदेव के बाणों की अग्नि से जलते हुए मेरे हृदय मे आप कैसे रहते ? आशय है, कि विरह की दशा मे मैं तुम्हारा सदा चिन्तन किया करती हू—मेरा हृदय तुम्हारा निवास-स्थान है, परन्तु विरह ज्वाला तुम्हें कुछ भी नहीं सताती।

बिहारी का इसी आशय का, परन्तु इससे उत्तम यह दोहा है—

निरहबिथा जल परस बिनु, बसियत मो हिय लाल।
कछु जानत जलथम विधि दुर्योधन लौं लाल ॥

किसी रुग्ण विरहिणी की उक्ति कैसी अनोखी है—

विरमत विरमत सख्यो नलिनीदलतालवृन्तपवनेन।
हृदयगतोऽयं वह्निर्झटिति कदाचिज्ज्वलत्येव॥

प्यारी सखियो! कमल के पत्तों से मुझे हवा न करो; क्योंकि यह मेरी हृदय में रहनेवाली विरह की आग, पंखा करने से, शीघ्र ही जल उठती है। क्या ही अच्छी उक्ति है!

काम को लक्ष्यकर कोई विरही कह रहा है—

स्वयमप्राप्तदुःखो यः स दुनोति न विस्मयः।
त्वं स्मर! प्राप्तदाहोऽपि दहसीति किमुच्यते॥

यदि स्वयं दुःख न पानेवाला कोई व्यक्ति किसी को सताता है, तो आश्चर्य की बात नहीं है; क्योंकि वह दुःख की व्यथा से अनभिज्ञ है; परन्तु हे कामदेव! स्वयं जल कर भी तुम दूसरों को जला रहे हो? तो क्या कहा जाय। आश्चर्य है, कि जलने की व्यथा पाकर भी तुम दूसरों पर सहानुभूति नहीं प्रकट करते; वरन् जला डालते हो। कथन खूब विचित्र है।

किसी विरहिणी नायिका की यह प्रार्थना कैसी अनूठी है—

पंचत्वं तनुरेतु भूतनिवहः स्वं स्वं विशत्वीप्सितं
याचे त्वां द्रुहिण! प्रणम्य शिरसाभूयोऽपि भूयान्मम।
तद्वापीषु पयस्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयालय—
व्योम्नि व्योम तदीयवर्त्मनि धरा तत्तालवृन्तेऽनिलः॥

यह मेरा शरीर नष्ट हो जाय। पाँचों भूत अपने-अपने इष्ट स्थानों में प्रवेश करें। हे ब्रह्मा! शिर से प्रणाम करके मैं यह

प्रार्थना करती हूँ कि फिर भी मेरे प्यारे के तालाब मे मेरा जलहो; मेरीज्योति प्यारेके दर्पण मे हो, मेरा आकाश उसके घर के आकाश में हो, मेरी पृथ्वी उसके रास्ते में हो, मेरा वायु उसके पंखे की हवा में हो। इस प्रकार मेरे पाँचों तत्त्व उस प्राण-प्यारे की सेवा करने में ही लगें। जीने पर मेरा मन उसी मे लगा था; अतः मरने पर भी मैं उसकी सेवा करूँ, यही मेरी प्रार्थना है। नायिका की प्रार्थना कैसी अच्छी है।

दूती नायक का अनुनय कर रही है—

तस्या महाविरहवह्निशिखाकलाप-
तप्ते स्थितोऽसि हृदये सततं प्रियायाः।
प्रालेयसीकरसमे हृदि सा कृपालो!
बाला क्षणं वसति नैव खलु त्वदीये॥

हे कृपालु, महा-विरह की अग्निज्वाला के समूह से तपे हुए उस नायिका के हृदय में तुम्हारा तो सदा निवास है; परन्तु पाला के समान शीतल तुम्हारे हृदय में उसका निवास एक पल के लिये भी नहीं होता। यह क्या बात है? आशय यह है कि तुम्हारे वियोग में वह तुम्हें रात-दिन सोच रही है—हिये में रखती है; परन्तु तुम मुर्दा-दिल बने हो, उसकी जरा भी चिन्ता नहीं करते। श्लोक में विरोधाभास क्या ही अच्छा झलक रहा है।

कोई दूती नायक से नायिका की दशा का वर्णन कर रही है—

अङ्गानि मे दहतु कान्तवियोगवह्निः
संरक्ष्यतां प्रियतमो हृदि वर्तते यः।
इत्याशया शशिमुखी गलदश्रुवारि-
धाराभिरुष्णमभिषिञ्चति हृत्प्रदेशम्॥

प्रिय की वियोग रूपी आग मेरे सब अङ्गों को जला डाले; परन्तु हृदय में रहने वाला प्रियतम बच जाय, मानो इस आशा से नायिका अपने आँसुओं से गर्म हृदय-स्थल को सींच रही है। वक्ष-स्थल पर गिरते हुए आँसुओं पर क्या ही अच्छी कल्पना है। तप्त हृदय-देश को ठंडा कर प्रियतम की रक्षा करने के लिये ही आँसू वहाँ गिर रहे हैं। अपना शरीर तो जल जाय, परवा नहीं; परन्तु प्यारे की रक्षा अवश्य होनी चाहिये। वाह रे पवित्र प्रेम!

अविलपरिवाहैरश्रुणः सारणीनां
स्मरदहनशिखोष्णश्वासपूरैश्च तस्याः।
सुभग बत कृशाङ्ग्याः स्पर्धयान्योन्यमेभिः
क्रियत इव पुरो भूः पङ्किला पांसुला च॥

दूती कहती है—हे सुन्दर नायक, तन्वङ्गी के नेत्रों से आँसुओं का प्रवाह लगातार बह रहा है। वह तुम्हारे वियोग में कामाग्नि ज्वाला से उष्ण साँस ले रही है। मालूम पड़ता है कि आपस में स्पर्धा से ये दोनों पृथ्वी को पंकयुक्त तथा धूलिमयी बनाना चाहते हैं। आँसू पृथ्वी को पंकमयी बनाना चाहते हैं और उष्ण श्वाँस धूलिमयी—इसके लिए आपस में लड़ रहे हैं। विरह का क्या अच्छा वर्णन है।

नपुंसकमिति ज्ञात्वा प्रियायां प्रहितं मनः।
तत्तु तत्रैव रमते हताः पाणिनिना वयम्॥

कोई विरही कह रहा है—नपुंसक जान कर मैंने अपने मन को प्रिया के पास भेजा; परन्तु वह वहीं रमण कर रहा है, अतः

पाणिनि ने हमे खूब ठग लिया। सस्कृत मे 'मनस' शब्द नपुसक है, यह जान मैने इसे भेजा कि नपुसक को स्त्री से क्या काम, परन्तु मन स्त्री मे अनुरक्त हो गया है, अत सस्कृत व्याकरणकार ने हमे खूब धोखा दिया।

कोई रुग्ण विरही कामदेव को सम्बोधन कर कह रहा है—

हृदि बिसलताहारो नायं भुजङ्गमनायकः
कुवलयदलश्रेणी कण्ठे न सा गरलद्युतिः।
मलयजरजो नेदं भस्म प्रियारहिते मयि
प्रहर न हरभ्रान्त्यानङ्ग क्रुधा किमु धावसि॥

—गीतगोविन्द ३।११

हे कामदेव ! मुझे महादेव की भ्रान्ति से मत मारो। हृदय में यह बिसलता का सफेद हार है, यह शेष नाग नहीं है। गले मे नीले कमल के पत्ते है, विष की द्युति नहीं। यह मैं चन्दन की धूलि लपेटे हूँ, यह भस्म नहीं है, अत मुझे शिव जान कर क्रोध से मारने के लिये मत दौडो। इस पद्य की छाया पर निर्मित विद्यापति का पद पढिये। (मेरा ग्रन्थ—भारतीय वाङ्मय मे श्री राधा पृ० २४७ २४८)

किसी विरहिणी का वर्णन कवि बडे अनूठे ढग से कर रहा है—

तन्वङ्ग्या गुरुसन्निधौ नयनजं यद्वारि संस्तम्भितं
तेनान्तर्गलितेन मन्मथशिखी सिक्तो वियोगोद्भवः।

मन्ये तस्य निरस्यमानकिरणस्यैषा मुखेनोद्‌गता
श्वासायाससमागताऽलिसरणीव्याजेन धूमावली ॥

तन्वङ्गी ने गुरुजनों के सामने वियोग-जनित आँसुओं को लज्जा के मारे नेत्रों ही में रोक रखा। इन आँसुओं ने भीतर जाकर कामानल को सींच डाला, अतः अब अग्नि की ज्वाला नहीं निकलती, प्रत्युत श्वाँस से आकृष्ट भ्रमरों की पंक्ति के व्याज से उस कामाग्नि की धूमराशि निकल रही है। काले भ्रमरों की पंक्ति काल धूम समूह के समान जान पड़ती है।

दूती नायक से नायिका का हाल कह रही है—
वर्षन्ति स्तनयित्नवो न सरले धारागृहे वर्तसे
गर्जन्ति प्रतिकूलवादिनि न ते द्वारि स्थिता दन्तिनः।
इत्येवं गमितो घनव्यतिकरः सा राजपुत्री पुनः
वाते वाति कदम्बपुष्पसुरभौ केन प्रतारिष्यते ॥

मेघ नहीं बरस रहे हैं, किन्तु तुम जलधारा गृह में हो। मेघ गर्ज नहीं रहे हैं, बल्कि तुम्हारे द्वार पर स्थित हाथी चिंघाड़ रहे हैं। इस प्रकार राजपुत्री को ठग कर मेघ काल तो बीत गया, परन्तु जब कदम्ब के पुष्प की सुगन्ध लिये हवा बह रही है, तब उसे कौन ठग सकता है। राजपुत्री अवश्य जान जायगी कि वर्षा काल बीत रहा है, अतः हे नायक! शीघ्र चलकर उसे संतुष्ट करो।

परदेश जाता हुआ पति अपनी स्त्री से कहता है—
कान्ते! यद्यपि वासराणि गमय त्वं मीलयित्वा दृशौ
स्वस्ति स्वस्ति निमीलयामि नयने यावन्न शून्या दिशः।

आयाता वयमागमिष्यसि सुहृद्वर्गस्य भाग्योदयैः
सन्देशो वद कस्तवाभिलषितस्तीर्थेषु तोयांजलिः ॥

पति कहता है—इन कतिपय दिनो को आँख मींचकर बिता दो। स्त्री उत्तर देती है—कल्याण हो, मैं अपने नेत्रों को बन्दकर लूँगी, जब तक दिशायें शून्य न हो जाँय।

पति—हम शीघ्र आयेंगे।

स्त्री—अपने मित्रों के भाग्य के उदय से तुम आवोगे। उससे हमें क्या ?

पति—तुम क्या चाहती हो ?

स्त्री—तीर्थ-स्थानों मे जल की अञ्जलि चाहती हू। स्त्री ने अपनी विरह-जन्य भावी मृत्यु की कितने साफ शब्दो में सूचना दी है। आशय है, तेरे जाते मैं मर जाऊगी, जीती नहीं रह सकती।

प्रणय कलह मे मानवती नायिका को नायक मना रहा है—

क्षीणांशुः शशलांछनः शशिमुखि ! क्षीणो न मानस्तव
स्मेरं पद्मवनं मनागपि न ते स्मेरं मुखाम्भोरुहम्।
पीतं श्रोत्रपुटेन षट्पदरुतं पीतं न ते जल्पितं
रक्ता शक्रदिगङ्गना रविकरैर्नाद्यापि रक्तासि किम् ॥

चन्द्रमा क्षीण हो गया, परन्तु हे प्रिये ! तुम्हारा मान अभी क्षीण नहीं हुआ। कमलवन खिल गया, परन्तु तेरा मुख कमल कुछ भी नहीं खिला। अपने कानों से भ्रमर की गुंजार सुनी, परन्तु तुम्हारी वाणी नही सुनी। पूर्व दिशा सूर्य किरणो से रक्त (लाल)

हो गई, परन्तु तुम अभी तक रक्त (सानुराग) नहीं हुई। प्रभात हो चला है, अब भी तो मानो।

महाकवि श्रीहर्ष की कैसी अनोखी उक्ति है—

निविशते यदि शूकशिखा पदे
सृजति सा कियतीमिव न व्यथाम्।
मृदुतनोर्वितनोतु कथं न ता-
मवनिभृत्तु निविश्य हृदि स्थितः॥

यदि केवल गेहूं का सूक्ष्म टूण (अग्रभाग) पैर में गड़ जाता है—मोटे चाम में प्रवेश करता है तो न मालूम कितनी व्यथा पैदा होती है। कोमल शरीर वाली नायिका के मर्म स्थान—कोमल हृदय—में नृप राजा ने प्रवेश किया है, तब व्यथा क्यों न पैदा हो ? छोटे सूक्ष्म टूण के मोटे चमड़े वाले पैर में प्रवेश कर जाने से जब तकलीफ मालूम होती है, तब स्थूल काय राजा के कोमल हिये में प्रवेश करने पर तो न मालूम कितनी तकलीफ होगी। अनुरक्त नायिका का पूर्वराग-वर्णन कितना अच्छा है।

कामदेव से कोई वियोगी कह रहा है—

सहायतया स्मर! भस्म झटित्यभूः पशुपतिं प्रति यामिषुमग्रहीः।
ध्रुवमभूदधुना वितनोः शरस्तव कटुस्वर एव स पंचमः॥

हे कामदेव! जिस बाण को तुमने शिवजी पर चलाया, वह तो तुम्हारे साथ ही नष्ट हो गया। मुझ वियोगी को कोकिला अपने कटुस्वरों से बारम्बार दुःखित कर रही है। मुझे मालूम पड़ता है कि कोकिला का पञ्चम स्वर ही तुम्हारा पाँचवाँ बाण हो गया है।

एक बाण के जलने पर चार बाण ही थे, पाँचवा यह कोकिल बन गई है।

मुक्ता माला के प्रति वियोगी की यह उक्ति है—

सूचीमुखेन सकृदेव कृतव्रणस्त्वं
मुक्ताकलाप ! लुठसि स्तनयोः प्रियायाः।
बाणैः स्मरस्य शतशो विनिकृत्तमर्मा
स्वप्नेऽपि तां कथमहं न विलोकयामि॥

हे मुक्ता समूह ! तुममे सूई की पतली नोक से घाव (छिद) किया गया। वह भी केवल एक बार, परन्तु इसी का फल है, कि प्रिया के स्तनों पर लोट रहे हो—स्वर्ग सुख भोग रहे हो। हम लोग तो कामदेव के बाणों से छेदे गये हैं। वह भी एक बार नहीं, सैकड़ों बार। शरीर विद्ध नहीं है, किन्तु कोमल मर्मस्थल छिद गया है। क्या कारण है, कि ऐसी दशा मे भी मैं अपनी प्यारी को स्वप्न मे भी नहीं देखता। तुम्हारी तरह छाती पर लोटना तो दूर रहे, यहाँ तो स्वप्न मे भी देखना मयस्सर नहीं।

विरहाग्नि की असह्यता का क्या अच्छा कारण दिया है—

दहनजा न पृथुर्दवथुर्व्यथा विरहजैव पृथुर्यदि नेदृशम्।
दहनमाशु विशन्ति कथं स्त्रियः प्रियमपासुमुपासितमुद्धुराः॥

अग्नि-ज्वाला की व्यथा बड़ी नहीं होती। विरह से उत्पन्न ही तक्लीफ अधिक होती है। यही कारण है, कि पति के मर जाने पर स्त्रियाँ शीघ्र ही आग मे प्रवेश कर लेती हैं। वियोग जन्य दु ख को वे नहीं सह सकती, इसी कारण आग में जल मरना अच्छा

समझती हूँ; पति वियोग के दुःख को असह्य जान जीवन धारण नहीं करतीं।

अपनी सखियों से वियोगिन कह रही है—

अन्तर्गता मदनवह्निशिखावली या
मा बाधते किमिह चन्दनचर्चितेन।
यः कुम्भकारपवनोपरि पंकलेप-
स्तापाय केवलमसौ न च तापशान्त्यै॥

हे सखियो! मेरे शरीर पर चन्दन का लेप करने से क्या लाभ? मेरे हृदय की कामदेव की अग्नि ज्वाला मुझे बारम्बार सता रही है, चन्दन के लेपसे वह शान्त नहीं हो रही है। कुम्हार के आँवा के ऊपर पक लेप से गर्मी थोड़े बुझती है, उससे तो वह और भी बढ़ती जाती है। उसी तरह ठढ़े चन्दन के लेप से मेरी भीतरी अग्नि की गर्मी और भी बढ़ रही है।

वियोगिनी प्रणय दूत के विषय मे विचार कर रही है—

रोलम्बो मधुपः पिकस्तु परभृद्रन्ध्रानुसारी मरुत्
हंसाः केवलपक्षपातनिरताश्चन्द्रोऽपि दोषाकरः।
चेतो नैति शुकस्त्विहैकपठिताध्यायी पयोदो जडः
कं वाहं प्रहिणोमि हन्त कठिनस्वान्ताय कान्ताय मे॥

कठोर हृदय प्रियतम के पास बुलाने के लिये किसको भेजूं? भ्रमर को भेजूँ? परन्तु वह तो शराबी है, कहीं रास्ते में पड़ा रह जायगा। कोकिल दूसरों से पाली गई है, हवा को भेजूँ? परन्तु वह छिद्रों को ढूँढ़ने वाला है—कुछ काम थोड़े निकलेगा। उससे

हंस केवल उड़ना जानता है। चन्द्रमा भी दोषों का समूह है। उसे भेजना ठीक नहीं। मन को भेज सकती हूँ, परन्तु वह तो चलता नहीं। शुक तो केवल रट्टू मल्ल है, पढ़े हुए को बारम्बार रटता है। मेघ जड़ है, वह सन्देशा कैसे ले जा सकता है। बड़ी कठिनता है, किसे भेजूँ?

किसी वियोगिनी की उक्ति बड़ी ही मर्मस्पर्शिनी है—

आयाता मधुयामिनी यदि पुनर्नायात एव प्रभुः
प्राणाः यान्तु विभावसौ यदि पुनर्जन्मग्रहं प्रार्थये।
व्याधः कोकिलबन्धने हिमकरध्वंसे च राहुग्रहः
कन्दर्पे हरनेत्रदीधितिरहं प्राणेश्वरे मन्मथः॥

वसन्त की रात तो आ गई। यदि मेरा प्रियतम इस समय भी परदेश से न आवे, तो मेरे प्राण आग मे जल जाँय। जीने की मुझे तनिक भी स्पृहा नहीं है। हाँ, यदि ब्रह्मा मुझे फिर जन्म देवे, तो मैं चाहती हू कि मैं कोयलों को बाँधने वाला व्याध होती, चन्द्रमा का नाश करने के लिये मैं राहु बनती, काम को जलाने के लिये शिव-नेत्र की ज्वाला होती, और प्रियतम के लिये कामदेव होती। ये सब मुझे इस समय दु:ख दे रहे हैं, अत दूसरे जन्म, मैं भी इन्हें नष्ट करने वाली बनूँ। यही मैं चाहती हू। विरह-तप्ता का कहना क्या ही ठीक है।

कामदेव के प्रति विरहिणी की उक्ति क्या ही बढ़िया है—

हृदयमाश्रयसे यदि मामकं ज्वलयसीत्थमनङ्ग तदेति किम्।
स्वयमपि क्षणदग्धनिजेन्धनः क्व भवितासि हताश! हुताशवत्॥

हे हताश काम! यदि तुम मेरे हृदय में वास करते हो, तो इस

प्रकार इसे क्यों जला रहे हो ? आग इन्धन को जला देती है, तब उसे रहने का स्थान नहीं मिलता, वह भी शीघ्र ही बुझ जाती है। उसी प्रकार यदि तुम मेरे हृदय को जला दोगे, तो रहोगे कहाँ ? अपने ही घर मे आग लगा देना कहाँ का न्याय है ? इस काम से बाज आओ, इसमें तुम्हारा ही भला है।

दूती नायक से कह रही है—

तव विरहमसहमाना सा तु प्राणान् विमुक्तवती।
किन्तु तथाविधमङ्गं न सुलभमिति ते न मुञ्चन्ति ॥

नायिका तुम्हारे विरह को नहीं सह सकी; अतः उसने तो प्राणों को छोड़ दिया, परन्तु प्राण ही उसके शरीर से अलग नहीं होते; क्योंकि वे जानते हैं कि ऐसा सुन्दर अङ्ग सुलभ नहीं है। वाह क्या कहा ! प्राणों को छोड़ दिया; परन्तु प्राण नहीं भागते। वाह री नायिका की सुन्दरता !

दूती नायक से नायिका की दशा कह रही है—

रुष्टे का परपुष्टे मन्दे का हन्त मारुते चर्चा।
त्वयि गतवति हृदयेशे जीवनदातापि जीवनं हरति ॥

तुम नायिका के हृदय के स्वामी हो। तुम जब से चले आये, तब से नायिका विरह मे तड़प रही है। कोकिल की कूक हिये में हूक-सी लगती है। उसकी मधुर बोली प्राणों को ले रही है; परन्तु वह तो नीच है। दूसरों से पाली गई है। मन्द वायु भी प्राणों को ले रहा है; परन्तु वह तो मन्द बुद्धिवाला है। उसे क्या कहें; परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है, कि तुम्हारे वियोग में जीवन देनेवाला भी (जल देनेवाला मेघ भी) जीवन को ले रहा है!

बादल की गर्जना से उसके प्राण निकलने लगते हैं। आश्चर्य है! जीवनदाता का जीवन हन्ता होना कितना अनुचित है।

यह उक्ति कितनी अच्छी है—

उद्धूयेत नतभ्रूः पक्ष्मनिपातोद्भवैः पवनैः।
इति निर्निमेषमस्या विरह वयस्या विलोकते वदनम्॥

सखियाँ वियोगिनी नायिका को बिना पलक गिराये देख रही हैं। पलक इसलिये नहीं गिरातीं, कि कहीं नायिका पलक गिराने से पैदा हुई हवा से उड़ न जाय। विरह में इतनी कृश हो गई है कि पलक गिराने से उसके उड़ जाने का डर है। वाह री कृशता की पराकाष्ठा!

कोई मनुष्य अपने मित्र के पास लिख रहा है—

यावद् यावद् भवति कलया पूर्णकायः शशाङ्क-
स्तावत्तावत् द्युतिमयवपुः क्षीयते सा मृगाक्षी।
मन्ये धाता घटयति विधुं सारमादाय तस्या-
स्तस्माद् यावन्न भवति सखे! पूर्णिमा तावदेहि॥

ज्यों-ज्यो चन्द्रमा की कला बढती जाती है, त्यों त्यों उस मृगनयनी का सुन्दर शरीर क्षीण होता जाता है। मुझे मालूम पड़ता है कि ब्रह्मा नायिका के अंशों को लेकर चन्द्रमा को बना रहा है, तभी तो चन्द्रमा का शरीर बढ़ता जाता है और नायिका पतली होती जाती है। अतएव, हे मित्र! जब तक पूर्णिमा न हो, तब तक चले आओ। उस दिन ब्रह्मा नायिका के सर्वाङ्ग को लेकर चन्द्रमा को पूरा बना देगा, वह दिन उसका अंतिम दिन होगा—अतः

जब तक उसके प्राण हैं, तब तक चले आवो। बाद आने मे उसे देख न सकोगे। क्याही बढ़िया उक्ति है!

नायिका पचाग्नि ताप रही है। देखिये—

> आद्यः कोपस्तदनु मदनस्त्वद् वियोगस्तृतीयः
> शान्त्यै दूती वचनमपरः पंचमः शीतभानुः।
> इत्थं बाला निरवधि परं त्वा फलं प्रार्थयन्ती
> हा हा पञ्चज्वलनमधुना सेवते योगिनीव ॥

पचाग्नि तपन हठयोग का एक भेद है। योगी लोग जेठ की दुपहरिया में चारों कोने आग रखकर बीच मे बैठ तपस्या किया करते हैं। नायक के विरह मे नायिका भी पचाग्नि मे बैठकर तपस्या कर रही है। पहिली आग है—तुम्हारे न आने पर कोप। शरीर को जलाता हुआ कामदेव दूसरी आग है। तुम्हारा वियोग उसे जला रहा, यह तीसरी आग है। शान्ति के लिये दूती उपदेश देती है, परन्तु उलटा उससे शरीर मे जलन पैदा हो जाती है। यही चौथी आग है। रात को शीत किरण,वाला चन्द्रमा दु ख दे रहा यह पाँचवी आग है। नायिका इन पाँचो अग्नियों का सदा सेवन कर रही है। [इस तपस्या का फल है—तुम अर्थात् नायक। अत ऐसा करो जिससे उसकी तपस्या सिद्धि हो। दूती का नायक से यह वचन कितना हृदय स्पर्शी है।

दूती नायक से नायिका की दशा का वर्णन कर रही है—

> प्रादुर्भूते नवजलधरे त्वत्पदं द्रष्टुकामाः
> प्राणाः पङ्केरुहदलदृशः कण्ठदेशं प्रयान्ति।

अन्यत् किम्वा तव मुखविधुं द्रष्टुमुड्डीयगन्तुं
पक्षः पक्षं सृजति विसिनीपल्लवस्यच्छलेन ॥

नायिका वियोग में रुग्ण हो गई, शरीर जल रहा है शीतलता पहुँचाने के लिये छाती पर बिसिनी का पल्लव रखा हुआ है। नव नील मेघों के पैदा होने पर कमलनयनी के प्राण तुम्हारे रास्ते को देखने के लिये उसके कण्ठ देश में आजाते हैं। तुम्हारे मुखचन्द्र को देखने के लिये वे उड जाना चाहते हैं, परन्तु उन्हें पॉख नहीं है, अत छाती पर जो बिसिनी का पल्लव रखा हुआ है, वही पॉख का काम कर रहा है। छाती भी उडने में सहायता देने के लिये तैयार है। शीघ्रही प्राण पखेरू तुम्हारे मुखचन्द्र के देखने के लिये पल्लव रूपी पाँख से उड जायेंगे। शीतल पल्लव के रखने पर भी उसकी बाधा शान्त नहीं होती, प्रत्युत बढती जाती है। उक्ति कितनी बढिया है!

कोई गोपी कृष्णचन्द्र से पूछ रही है—

नायं मुञ्चति सुभ्रुवामपि तनुत्यागे वियोगज्वर-
स्तेनाहं विहिताञ्जलिर्यदुपते! पृच्छामि सत्यं वद।
ताम्बूलं कुसुमं पटीरमुदकं यद् बन्धुभिर्दीयते —
स्यादत्रैव परत्र तत्किमुचितज्वालावलीदुःसहम् ॥

सुन्दरियों के शरीर त्यागने पर भी वियोगरूपी ज्वर उन्हें नहीं छोडता। जिस प्रकार इस लोक मे सताता था, उसी प्रकार परलोक मे भी वियोग सताया करता है। हे कृष्ण! अतएव हाथ जोडकर मैं आपसे पूछ रही हू, कि जिस प्रकार सखियों से दिया

गया पान, फूल, चन्दन तथा जल इस लोक में आग की ज्वाला के समान असह्य मालूम होता है, क्या परलोक में भी चन्दनादिक इसी प्रकार वेदना करते हैं ? क्या परलोक में कुसुम वगैरह शीतल नहीं हैं ? यदि वे चीजें शीतल नहीं, तो मरने पर भी विरह-वेदना उसी भाँति असह्य बनी रहेगी, फिर मरने से लाभ ही क्या है ?

नायिका के पास नायक क्याही बढ़िया सन्देश भेज रहा है—

> भवत्या विश्लेषे गुरुहृदयखेदेन तनुतां
> तनुर्नित्यं धत्ते सदृशमिति मत्तेभगमने !
> इदं तावच्चित्रं कमलमुखि ! सर्वैरवयवैः
> सुरूपा त्वं लोके नियतमसुरूपा भवसि नः ॥

हे प्यारी ! गजगामिनी ! तुमसे वियोग होने पर अत्यन्त हार्दिक खेद से तनु (शरीर) अत्यन्त तनुता (कृशता) को धारण कर रहा है। यह तो ठीक है। किसी पदार्थ का भाव उसी चीज में रहता है। तनुत्व भी तनु में रहता है। यह उचित है। हे कमलनयनी ! आश्चर्य की बात तो यह है, कि सब अङ्गों से सुरूप (सुन्दर रूप वाली) तुम हम लोगों के लिये नियत ही असुरूप (सुरूप-सुरूप-भिन्न) हो रही हो। अचंभा तो इसी में है कि सुरूप चीज किस तरह विरह में उसके उलटा असुरूप हो गई है। श्लिष्ट अर्थ को लेने पर अचम्भा तुरन्त दूर हो जाता है। असुरूप का अर्थ है प्राणरूप। ठीक ही है कि वियोग में सुन्दरी ! तुम हमारे प्राण ही बन गई हो। 'इन प्राणन के तुम प्यारे हो।' नायिका का यह सन्देश कितना भावपूर्ण है !

किसी नायक की चाटूक्ति कैसी बढ़िया है—

एको हि खञ्जनवरो नलिनीदलस्थो
दृष्टः करोति चतुरंगबलाधिपत्यम्।
किं वा करिष्यति भवद्वदनारविन्दे
जानामि नो नयनखञ्जनयुग्ममेतत्॥

नायक नायिका से कह रहा है कि यदि कोई एकही खञ्जन पक्षी को कमल के पत्तो पर बैठा देख ले, तो वह राजा हो जाता है—चतुरङ्गिनी सेना का मालिक बन जाता है। आपके नेत्र तो दो खंजन हैं। यदि मुख कमल पर बैठे इन्हें कोई देखेगा, तो उसे क्या फल मिलेगा—यह कौन जाने? उसे तो राजा से भी ऊँचा पद मिलना चाहिए।

कमलाक्षि! विलम्ब्यतां क्षणं कमनीये कचभारबन्धने।
दृढलग्नमिदं दृशोर्युगं शनकैरद्य समुद्धराम्यहम्॥

नायक कह रहा है कि हे कमलनयनी! जरा ठहरो, अपने केशकलाप को अभी मत बाँधो। मेरे दोनों नेत्र उसमें उलझ गये हैं—जरा धीरे-धीरे मैं उन्हें सुलझा तो लूँ। इसके बाद तुम चाहे बाँधना। क्या ही बढ़िया कहा है! सुन्दर केशों को देख नयन विचारे वहीं पर उलझ गये हैं। वाह रे उलझना!

नायिका पुष्पमयी है—जरा उसका मनोरम रूप देखिये—

तवाननं सुन्दरि! फुल्लपंकजं स्फुटं जपापुष्पमसौ तवाधरः।
विनिद्रपद्मं तव लोचनद्वयं तवांगमन्यत् किल पुष्पसंचयः॥

हे सुन्दरी! तुम्हारा मुख खिला हुआ कमल है, होठ जपा के

फल है, दोनों नेत्र खिले पद्म हैं, अन्य अङ्ग पुष्प समूह हैं। नायिका फूलों से बनी है। कैसी होगी उसकी कोमलता तथा सुन्दरता।

नासिका पर किसी कवि की उक्ति कैसी चमत्कार पूर्ण है—

> शिखरिणि क्व नु नाम कियच्चिरं
> किमभिधानमसावकरोत्तपः ।
> सुमुखि ! येन तवाधरपाटलं
> दशति बिम्बफलं शुकशावकः ॥

नायक कह रहा है कि हे सुन्दरी ! सुग्गे के बच्चे ने किस पर्वत पर कितने दिनों तक कैसी तपस्या की है, जिसका यह अतुलनीय फल भोग रहा है कि वह तुम्हारे लाल होठ रूपी बिम्ब फल को अपने चोंच से काट रहा है। बहुत ही बड़े तपस्या का अवश्य यह फल है ! लाल होठ तथा सुन्दर नासिका पर कैसी मनोहारिणी उक्ति है !

प्रोष्यत्पतिका की दशा का क्या ही अच्छा वर्णन है—

> गन्तुं प्रिये वदति निश्वसितं न दीर्घं
> आसीन्नवा नयनयोर्जलमाविरासीत् ।
> आयुर्लिपिं पठितुमेणदृशः परन्तु
> भालस्थलीं किमु करः समुपाजगाम ॥

जब प्रियतम जाने के लिये तैयार हुआ, तब नायिका ने न तो दीर्घ श्वास लिया, न नयनों में जल ही प्रकट हुआ ; परन्तु उसका हाथ आयु की लिपि पढ़ने के लिये उसके ललाट (लिलार) पर चला गया। कहा जाता है कि ब्रह्मा मनुष्य के भाल पर मरने का दिन लिख देता है। नायिका का हाथ ललाट पर यह जानने

के लिये जाता है कि इसका और भी कुछ जीवन शेष है या आज ही यह मर जायगी। क्या ही अच्छी उत्प्रेक्षा है।

नायिका नायक से कह रही है—

भास्वाँश्चूततरुर्गुरुः मनसिजः कोऽप्येष भृङ्गस्तमो
मन्दो गन्धवहः सितो मलयजो दोषाकरो माधवः।
अङ्गारो नवपल्लवः परभृतो विज्ञो गुरोराज्ञया
निर्यातोऽसि विचारिताः कथममी क्रूरा ग्रहा न त्वया॥

हे प्रियतम! अपने गुरु की आज्ञा से तो तुम जा रहे हो; परन्तु क्या तुमने क्रूरग्रहों का विचार नहीं किया है। आम्रवृक्ष सूर्य है, कामदेव बृहस्पति ग्रह है, काला भौंरा राहु है; शीतल मन्द सुगन्ध वायु शनैश्चर है, सफ़ेद चन्दन शुक्र है, दोषों का समूह वसन्त चन्द्रमा है, लाल नये पल्लव मङ्गल हैं, चतुर कोकिल बुध है। ये ग्रह सामने वर्तमान हैं। भला, जाने के समय इनका विचार किया है? वसन्त में विदेश जाना क्या कभी समुचित है। ग्रहों की कल्पना इस पद्य में कैसी अच्छी है! ज्योतिष पर विश्वास रखनेवाले कट्टर हिन्दू को यात्रा से रोकने का क्याही समुचित सामान है!

अनुदिनमभ्यासदृढैः सोढुं दीर्घोऽपि शक्यते विरहः।
प्रत्यासन्नसमागममुहूर्तविघ्नस्तु दुर्विरहः॥

प्रत्येक दिन अत्यन्त अभ्यास से बड़ा भी विरह सहा जा सकता है; परन्तु जब समागम बिल्कुल नज़दीक होता है, तब क्षण-भर का भी विरह नहीं सहा जाता। उक्ति बिल्कुल ही ठीक है।

कोई विरही वायु से कह रहा है—

हं हो धीर समीर ! हन्त जननं ते चन्दनक्ष्माभृतो
दाक्षिण्यं जगदुत्तरं परिचयो गोदावरीवारिभिः ।
प्रत्यङ्गं दहतीह मे त्वमपि चेदुद्दामदावाग्निवत्
मत्तोऽयं मलिनात्मको वनचरः किं वक्ष्यते कोकिलः ॥

हे मन्द वायु ! तुम्हारा जन्म मलयाचल मे हुआ। तुम्हारा दक्षिणपना (बराबर अनुकूलता) सब पर प्रकट है। रास्ते मे गोदावरी के जल से तुम्हारा परिचय हुआ। ऐसे शीतल होकर भी तुम उत्कट वनाग्नि के समान हरएक अङ्ग को जला रहे हो। तब मतवाले, काले, वन मे चलनेवाले कोकिल को मैं क्या कहूं ? वह तो स्वय दुष्ट है, यदि वह अपनी कूक से मेरे प्राण ले रहा है, तो उसे क्या कहू।

कोई दूती नायक से नायिका की दशा कह रही है—

महिलासहस्सभरिए तुह हिअए सुहअ ! सा अमाअंती ।
अणुदिणं अणणअम्मा अङ्गं तणु अपि तणूएई ।
[महिलासहस्रभरिते तव हृदये सुभग ! साऽमान्ती ।
अनुदिनमनन्यकर्माङ्गं तन्वपि तनूकरोति ॥]

हे सुभग ! हजारों स्त्रियों से पूर्ण होने के कारण तुम्हारे हृदय मे मेरी सखी समा नहीं रही है—तुम्हारे हृदय मे हजारों अन्य नायिकायें वास कर रही है, अत मेरी सखी के रहने का स्थान नहीं है। हृदय बिल्कुल भरपूर है, अत वह रहे, तो कहाँ रहे। अतएव वह निवास करने ही के लिये उद्यत होकर पतले अङ्गों को

और भी पतला बना रही है। पतले अङ्गों को तो थोडे स्थान से ही काम चल सकता है; अत. जब सब अङ्ग पतले हो जायँगे, तब शायद उसके लिये जगह मिल जायगी। आशय है कि वह नायिका तुम्हारे विरह मे कृश हो रही है और तुम अन्य स्त्रियों पर आसक्त हो, उसकी कुछ खबर भी नहीं लेते। क्याही सीधे शब्दों मे बात कही गई है।

विरह में विरहिणी को सुख पहुँचाने के लिए शीतलोपचार किये जाते हैं, परन्तु देखिए, यह विरहिणी उनका किस प्रकार तिरस्कार कर रही है—

अपसारय घनसारं, कुरु हारं दूर एव किं कमलैः।
अलमलमालि मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला॥

ऐ मेरी प्यारी सहेली! कपूर को हटाओ; इस शीतल हार को दूर करो; कमलों से क्या? ये बेकाम हैं—इनसे मेरा काम नहीं सरेगा; बस-बस, मृणाल मुझे न चाहिए—इस प्रकार वह बाला दिनरात कहती रहती है। इतना सुकुमार पद-विन्यास है! प्रथमार्ध मे 'रेफ' का और उत्तरार्ध में 'लकार' का अनुप्रास नितान्त सुन्दर है। शब्द-विन्यास विरह के उपयुक्त कितना गलितप्राय है। यह आर्या 'कुट्टनीमत' के कर्ता कविवर दामोदर गुप्त की रचना है।

किसी विरह की कारुण्यपूर्ण उक्ति सुनिए—

हारो नारोपितः कण्ठे मया विच्छेदभीरुणा।
इदानीमावयोर्मध्ये सरित् - सागर-भूधराः॥

एक दिन वह था, जब मैंने विच्छेद के डरसे अपनी प्रियतमा के गले मे मोतियों का हार भी नहीं डाला—मुझे डर लगता था

कि प्यारी के गले में हार डाल देने पर छाती से छाती नहीं मिलेगी ; पूर्ण संयोग प्राप्त न हो सकेगा। और हाय ! आज वह दिन देखना पड़ा, जब हमारे और उनके बीच नदियाँ, समुद्र तथा पहाड़ आकर पड़ गए हैं। विचित्र है, दुर्भाग्य की लीला ! तब कौन जानता था कि इतने बुरे दिन देखने को मिलेंगे। संयोग और वियोग दशा की विषमता कितने सीधे-सादे शब्दों में दिखलाई गई है। यह श्लोक है तो अत्यन्त छोटा; परन्तु विप्रलम्भ के मधुर भाव से लबालब भरा है। घनानन्दजी ने भी कुछ ऐसी ही विषादपूर्ण बातें कही हैं—

तब हार पहार से लागत हे,
अब आनि कै बीच पहार परे !

किसी वियोगिनी को देखकर सखी को योगिनी का भ्रम हो रहा है अतः वह पूछ रही है:—

आहारे विरतिः समग्रविषयग्रामे निवृत्तिः परा
नासाग्रे नयने यदेतदपरं तच्चैकतानं मनः।
मौनं चेदमिदं च शून्यमखिलं यद् विश्वमाभाति मे
तद् ब्रूयाः सखि! योगिनी किमसि वा किं वा वियोगिन्यसि॥

तुमने भोजन करना छोड़ दिया है ; समग्र विषय समूह से अलग हट गई हो ; आँख नासिका के कोर पर सदा लगी रहती है ; तुम्हारा मन बिल्कुल एकतान हो गया है—एक ही में निरन्तर लगा है; बोलना बन्द कर दिया है; यह सारा संसार तुझे शून्य-सा प्रतीत होता है। अतः हे सखी ! मुझसे कहो कि तुम योगिनी हो या वियोगिनी ? मैं तो तुझे वियोगिनी समझती थी ; परन्तु तुम्हारे समग्र व्यापार तो योग साधन करने वाली स्त्री की तरह जान पड़ते

हैं। अत सच बताओ तुम हो कौन? योग साध रही हो, या पति के वियोग मे दिन काट रही हो? इस रमणीय पद्य मे वियोगिनी तथा योगिनी के आचरण की समानता कितने स्पष्ट शब्दों मे दिखलाई गई हैं। वियोग साधना क्या योग साधने से कुछ घट कर थोडे है। दोनों समकोटि के हैं

विरहिणी की यह उक्ति कितनी रमणीय तथा स्वाभाविक है—

गतोऽस्तं घर्मांशुर्भज सहचरीनीडमधुना
सुखं भ्रातः सुप्याः सुजनचरितं वायस कृतम्।
मयि स्नेहाद् वाष्पस्थगित नयनायामोपघ्रणो
रुदत्यां यो यातस्त्वयि स विलपत्येष्यसि कथम्॥

हे भाई कौए, अब शाम हो गई। तीक्ष्ण किरण वाला सूर्य अब डूब गया। अब तुम अपनी सहचरी के घोंसले मे चले जावो और वहाँ सुखपूर्वक सोवो। तूने सज्जन का काम किया। आँसुओं से आँखों के ढक जाने पर भी वह मेरे रोने का तनिक भी खयाल न कर चला गया; ऐसी स्थिति मे वह निर्मोही क्या तुम्हारे शब्द करने पर कभी आवेगा? नहीं, हरगिज नहीं। पतिके आगमन की सूचना देने वाले कौये के प्रति विरहिणी का यह कथन कितनी मार्मिक वेदना से ओतप्रोत है, प्रियतमा की आँसुओं की झड़ी जिसे रोक नहीं सकी, भला उस निर्दयी को कौये की रटन बुला लावेगी। सूक्ति का सौन्दर्य तथा भाव सुतरां अवलोकनीय है। शिवस्वामी (६म् शती का मध्य भाग) के कप्फिणाभ्युदय महाकाव्य का यह सरस पद्य वास्तव में कवि की उत्कृष्ट प्रतिभा का द्योतक है।

भगवान् कृष्णचन्द्र के सामने उनके विरह में गोकुल की दयनीय दशा का वर्णन उद्धवजी कितने मार्मिक ढग से कर रहे हैं—

शीर्णा गोकुलमण्डली पशुकुलं शष्पाय न स्पन्दते
मूका कोकिलसंहतिः शिखिकुलं न व्याकुलं नृत्यति ।
सर्वे त्वद्विरहेण हन्त नितरां गोविन्द ! दैन्यं गताः
किन्त्वेका यमुना कुरङ्गनयनानेत्राम्बुभिर्वर्धते ॥

हे गोविन्द ! गोकुल की दशा मुझसे मत पूछिये । वहाँ तुम्हारे विरह में समस्त प्राणी दीन हो गए हैं। गौओं की मण्डली क्षीण हो गई है, पशुगण घास चरने के लिये हिलते तक नहीं हैं, कोकिलों का समूह मूक होगया है—वह अपने मनोरम कलरव को सुनाकर श्रोताओं के चित्त को प्रफुल्लित नहीं करता, व्याकुल मयूरों का झुण्ड नहीं नाच रहा है। इसप्रकार गोकुल के सब जीव क्षीण हो गए हैं, किन्तु एक ही जीव ऐसा है, जो विरह में भी सतत बढ़ रहा है, और वह है—यमुना, जो मृगनयनियों के नेत्र जलसे—आँसुओं से बढ़ रही है। यमुना की जलवृद्धि का वर्णन कर कवि ने गोपियों के सतत रोदन की क्याही मधुर अभिव्यञ्जना की है। गोविन्द के विरह में गोपियाँ सदा रो रही हैं, तभी तो यमुना का जल सदा बाढ़ पर है। गोकुल की अवस्था का सूब मधुर तथा करुणमय चित्रण है। सूक्ति नितान्त चुटोली है।

कोई दूती श्रीकृष्ण के सामने राधिका की विरहावस्था का वर्णन कर रही है—

चक्रे चन्द्रमुखी प्रदीपकलिका धात्रा धरामण्डले
तस्या दैववशात् दशापि चरमा प्रायः समुन्मीलति ।

तद् ब्रूमः शिरसा नतेन सहसा श्रीकृष्ण निक्षिप्यतां
स्नेहस्तत्र तथा यथा न भवति त्रैलोक्यमन्धं तमः ॥

हे श्रीकृष्ण ! चन्द्रमुखी राधिका को ब्रह्मा ने इस धरामण्डल पर प्रदीप की कलिका बनाया है—वह दीपक की शिखा की तरह इस ससार को प्रकाशित कर रही है। परन्तु इस समय उसकी भाग्यवशात् अन्तिम दशा (मरण दशा तथा अन्तिम बत्ती) स्फुरित हो रही है। इसलिए हमलोग आपसे सिर नवाकर कहते हैं कि आप जल्दी से उसमे स्नेह (तेल तथा प्रेम) डालिए, नहीं तो यह तीनों लोक गाढ़ अन्धकार मे लीन हो जायगा। 'दशा' तथा 'स्नेह' शब्द श्लिष्ट है। जिस प्रकार अन्धकार से बचने के लिए टिमटिमाते दिए की आखिरी बत्ती मे तेल डालना चाहिए, उसी प्रकार आप यदि राधिका को मृत्यु मुख से बचाना चाहते हैं, तो कृपया अपना प्रेम दर्शाइये। आशय है कि आपके विरह में राधिका मरणासन्न हो गई है। कृपया अपना नेह दिखाकर उसे बचा लीजिए। साथ ही इस ससार को भी तमसाच्छन्न होने से रख लीजिए। राधिका के लिए प्रदीपकलिका का रूपक बहुत ही सुन्दर हुआ है। चुने हुए चुस्त शब्दों मे कितनी अच्छी विनीत प्रार्थना है। राधिका को बचाना क्या है, त्रैलोक्य की रक्षा करना है। अत आप उसे बचा कर ससार का महान् उपकार कीजिए, दूती के कथन का यही आशय है।

राधा के हृदय की कोमल अभिव्यक्ति कितनी मार्मिकता से इस कमनीय पद्य मे की गयी है। बातचीत मे ही किसी गोपी ने राधाजी से शिकायत कर दी कि कृष्ण अब तुम्हारे वाम हो गये हैं—उनका आचरण तुम्हारे प्रति अब बिल्कुल उलटा हो

गया है। तुम से न बोलते हैं, न कभी प्रेमभरी चितवन मुख की ओर डालते हैं। ऐसी दशा में उस वामाचारी के प्रति तुम्हारी इतनी रुझान क्यों? इसके उत्तर में राधा की यह मार्मिक उक्ति है—

सखि हे चरतु यथेष्टं वामो वा दक्षिणो वास्तु।
श्वास इव प्रेयान् मे गतागतैर्जीवत्येव॥

हे सखि! वह अपनी इच्छासे, जैसा चाहे वैसा, चरे—व्यवहार करे। मुझे इसमे तनिक भी शिकायत नहीं। वह वाम (उलटा आचरण वाला) हो अथवा दक्षिण (अनुकूल आचरण वाला) हो, इसकी मुझे चिन्ता नहीं है। वह प्रियतम मेरा श्वास के समान है जो आने जाने मात्र से, किसी भी अवस्था में जिलाता ही है। इस पद्य मे प्रिय की उपमा श्वास से कितनी स्वाभाविक और औचित्यपूर्ण है। प्राणीको जीवित रहने के लिए श्वास का आना-जानाही पर्याप्त है। श्वास दाहिनी ओर चलरहा है अथवा बाईं ओर। इसका क्या कोई भी प्राणी विचार करता है? नहीं, कभी नहीं। श्वास का चलना ही जीवन के लिए पर्याप्त है। उसी प्रकार प्रियतम का स्वेच्छाचरण ही प्रेमी के जीवन का मेरुदण्ड है। उस आचरण की दिशा पर वह कभी विचार नहीं करता है कि वह अनुकूल है अथवा प्रतिकूल।

लिखति न गणयति रेखा निर्भरवाष्पाम्बुधौतगण्डतला।
अवधिदिवसावसानं मा भूदिति शङ्किता बाला॥

पति परदेश से कुछ ही दिनों के लिये घर आया है। बाला नायिका की आखों से आसुओं की धारा बह रही है जिस से

उसका कपोल बिलकुल धुल गया है। अब अवधि के दिनों की रेखाएँ लिखती है जरूर, परन्तु गिनती नहीं। डरती है कि कहीं ऐसा न हो कि अवधि पूरी हो जाय और प्रिय पति के आने का दुस्सह दुःख अभी उपस्थित हो जाय। पद्य में नायिका के कोमल हृदय का पता बड़ी खूबी के साथ दिया गया है।

कवि कुवलयवती की विरहजन्य कृशता का वर्णन कर रहा है—

मुष्टिग्राह्यं किमपि विधिना कुर्वता मध्यभागं
मन्ये बाला कुसुमधनुषो निर्मिता कार्मुकाय।
राजन्नुच्चैर्विरहजनितक्षामभावं वहन्ती
जाता संप्रत्यहह सुतनुः सा च मौर्वी लतेव॥

हे राजन्, ब्रह्मा ने तो स्वयं उसकी कमर को बहुत पतली बनाया है। उसका मध्य भाग इतना पतला है कि मुट्ठी में पकड़ा जा सकता है—वह मुष्टिमेय है। जान पड़ता है कि पुष्पधन्वा कामदेव के धनुष के लिए यह नायिका बनाई गई थी, परन्तु आज वह विरह दुःख के कारण बहुत ही कृश हो गई है—इतनी पतली हो गई है कि अब धनुष के अनुरूप न रह गई। हा, उसकी डोरी का कुछ कुछ काम कर सकती है।

वियोग वर्णन का एक दूसरा उदाहरण लीजिए—

सारंगाक्ष्या जनयति न यद् भस्मसादङ्गकानि—
त्वद्-विश्लेषे स्मरहुतवहःश्वास-संधुक्षितोऽपि।
जाने तस्याः स खलु नयन-द्रोणिवारा प्रभावो-
यद्वा श्रथनृप तव मनोवर्तिनः शीतलस्य॥

हे राजन्, तुम्हारे वियोग मे कामरूपी अग्नि श्वास के पवन से सधुक्षित होने पर भी–सास की हवा से धौंके जाने पर भी–उस मृगनयनी के कोमल अगों को जलाकर राख नहीं बना रहा है। इसमे केवल दो ही कारण दिखाई पडते हैं। वह लगातार रो रही है। उसकी आखों से अनवरत आसू की धारा बह रही है। उसकी आखें भी बडी सुन्दर द्रोणि (पानी उलीचने के लिये पात्र विशेष) की भाति हैं। बस, लगातार आखों की इस अश्रुधारा के कारण ही उसका शरीर जलता नहीं। अथवा तुम्हारी ही शीतल मूर्ति उसके हृदय मे बैठी हुई है। काम कितना भी जलाना चाहे वह जला नहीं सकता। उसके हृदय मे वास करने वाली तुम्हारी मूर्ति सदा उसे शीतल बनाये हुए है। इन्हीं कारणों से वह अब तक बची चली आ रही है। इस श्लोक में वियोगावस्था—की ज्वाला तथा अश्रु के अनवरत प्रवाह की बहुत ही अच्छी व्यजना की गई है। कवि ने एक साधारण बात को विलक्षण ढग से लिखा है।

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपास्ते
चोन्मीलित मालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरत-व्यापार-लीलाविधौ
रेवा-रोधसि वेतसी-तरुतले चेतः समुत्कण्ठते॥

कोई नायिका कह रही है—कुमारावस्था को मिटाने वाला वही मेरा पति है। चैत की रातें भी वही हैं। खिली मालती के गन्ध को लिए हुए पूर्व परिचित कदम्ब वायु धीरे धीरे बह रही है। मैं भी वही हूं। परन्तु क्या कारण है कि नर्मदा के कूलपर अशोक के कुञ्ज के लिये मेरा चित्त आज भी उत्कण्ठित हो रहा है।

आहूतोऽपि सहायैरेमीत्युक्त्वा वियुक्तनिद्रोऽपि ।
गन्तुमना अपि पथिकः संकोचं नैव शिथिलयति ॥

हेमन्त के वर्णन मे यह पद्य दोनों सूक्तिग्रन्थों (न० १३७, ६४, न० १८३८) मे उद्धृत है। हेमन्त की ऋतु है। कड़ाके का जाडा पड रहा है। सगी साथियों ने बाहर जाने का विचार किया है। नायक भी जाने का तैयार है। प्रात काल सगी लोग, उसे जगाने के लिये जाते है, आकर उठने के लिये पुकारते है। मैं आया, लो मैं आया, यह कहकर वह निद्रा छोंड, बैठ भी जाता है। पथिक की जाने की प्रबल इच्छा भी है, परन्तु करे, तो क्या करे? वह अपने सकोच को शिथिल नहीं कर रहा है? जाडे की रातों मे आनन्द के साथ अपनी प्रियतमा के साथ शयन करने वाला नायक प्रात काल मे, उसके भुजबन्धन से अपने को कैसे अलग कर सकता है? उससे वह छुट्टी माँगने मे अत्यन्त सकोच का अनुभव कर रहा है। इस प्रसिद्ध पद्य के विषय मे ऊपर लिखा जा चुका है। सकोची पथिक का यह जीता जागता चित्र है। वास्तव मे यह पद्य अनूठा है।

विकल्प-रचिताकृतिं सततमेव तामीक्षसे
सदा समभिभाषसे समुपगूहसे सर्वदा।
प्रमोदमुकुलेक्षणं पिबसि पाययस्याननं
तथापि च दिवानिशं हृदय हे किमुत्कण्ठसे ॥

कोई विरही अपने हृदय से कह रहा है—हे मेरे हृदय? लगातार सकल्प करने से—चिन्तन करने से-उस-प्रियतमा की आकृति को तूने बनाया है, और उसे तू सदा देख रहा है,

उससे बोल रहा है, और उसका आलिङ्गन कर रहा है? आनन्द के कारण जिस के नेत्र बन्द हो गये हैं, ऐसी प्रियतमा के मुख को तू पीता है, चुम्बन करता है, और अपने मुख का भी चुम्बन कराता है। कल्पित प्रियतमा के साथ इतने आनन्द का अनुभव करता है, परन्तु क्या कारण है कि रात-दिन तू उत्कण्ठित रहता है? संयोग की तेरी समग्र इच्छाएँ पूर्ण हो रही हैं। अतः उत्कण्ठा का कोई स्थान नहीं है, परन्तु आश्चर्य है कि तू भी व्याकुल होता है। यह सुन्दर पद्य सदुक्तिकर्णामृत में (न० २४५५) 'भर्तु' नाम से दिया गया है।

वाता वान्तु कदम्बरेणुबहला नृत्यन्तु सर्पद्विपः
सोत्साहा नवतोय-दानगुरवो मुञ्चन्तु नादं घनाः।
मग्नां कान्त-वियोग-दुःख-दहने मां वीक्ष्य दीनाननां
विद्युत्प्रस्फुरसि त्वमस्यकरुणे स्त्रीत्वेऽपि तुल्ये सति ॥

किसी प्रोषितपतिका के हृदय की आह निकल रही है। वर्षाकाल अपने सहायकों के साथ वियोगिनी जन को उद्वेजित करने के लिए आ पहुंचा है। पति परदेश में है। नायिका कान्त-वियोग में कामाग्नि से जली जा रही है। वह कहती है कि कदम्ब के पराग से मिले हुए वायु बहें, घन घमण्ड को देख कर मोर नाचें, गम्भीर गर्जना करें और जल बरसावें मैं कान्त की वियोगाग्नि में जली जा रही हूँ। परन्तु इन पुरुषों से मेरी चलाहना कुछ भी नहीं है। भला पुरुषों को भी कभी दया आती है? अबलायें मरें, उन्हें इसकी परवाह क्या? वायु, मयूर और मेघ सब पुरुष हैं, परन्तु नारी का हृदय बड़ा कोमल होता है। वह दूसरों को, खासकर स्त्री को, दुःख में देखकर दया दिखाती

है, सहानुभूति प्रदर्शित करती है। परन्तु हे निर्दयी दामिनि ? तुम भी मेरे समान नारी हो, फिर भी दया और सहानुभूति को तिलाञ्जलि देकर क्यों चमक रही हो ? भला नारी का यह व्यवहार कभी श्लाघनीय है ? मेरी सच्ची उलाहना तुम्ही से है। तुम जान बूझकर मुझे मारे डाल रही हो। दया नहीं करती हो ? पाठक देखें, बिजुली को उलाहना देना कैसा युक्तियुक्त है ?

प्रस्थानं वलयैः कृतं प्रियसखैरस्रैरजस्रं गतं
धृत्या न क्षणमासितं व्यवसितं चित्तेन गन्तुं पुरः।
यातुं निश्चितचेतसि प्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिता
गन्तव्ये सति जीवित ! प्रियसुहृत्सार्थः किमु त्यज्यते॥

भावी प्रोषितपतिका अपने जीवन से कह रही है—जब मेरे प्रियतम ने जाने का निश्चय किया तब दुर्बलता के मारे मेरे हाथ के भूषण गिर गये, प्रियमित्र अश्रु भी जाने लगे। केवल जाने की खबर सुनकर नेत्रों से सतत धारा चलने लगी। सन्तोष एक क्षण भी न टिका, मन तो पहले ही जाने के लिये तैयार हो गया—ये सब एक साथ ही चलने के लिये तैयार हो गये। हे प्राण तुम्हें भी तो एक दिन जाना ही है तो अपने मित्रों का साथ क्यों छोड रहे हो ? प्राणप्यारे के जाने की खबर सुन तुम भी क्यों नहीं चल बसते।

लिखन्नास्ते भूमिं बहिरवनतः प्राणदयितो
निराहाराः सख्यः सततरुदितोच्छूनयनाः।
परित्यक्तं सर्वं हसितपठितं पञ्जरशुकै-
स्तावावस्था चेयं विसृज कठिने ! मानमधुना॥

मानिनी की कोई प्रधान सखी कह रही है हे कठोर हृदयवाली! बस, अब मान छोड़ो। देखो तुम्हारे प्राणप्यारे की कैसी बुरी दशा है। बिचारा सर नवाये बाहर बैठा पागलों की तरह ज़मीन को खरोंच रहा है; प्यारी सखियों ने भोजन छोड़ दिया है। हमेशा रोने से उनकी आँखें सूजगई हैं पिंजड़े के शुकों ने तुम्हारे शोक के मारे हँसना तथा पढ़ना छोड़ दिया है और तुम अभी तक मान लिये बैठी हो! भला तुम्हें तनिक दया नहीं आती। जल्दी मान छोड़ो। यह पद्य ध्वनि के उदाहरण में काव्यप्रकाश में उद्धृत है (का० प्र० चतुर्थ उल्लास)।

> गते प्रेमाबन्धे हृदयबहुमानेऽपि गलिते
> निवृत्ते सद्भावे जन इव जने गच्छति पुरः।
> तथा चैवोत्प्रेक्ष्यप्रियसखि गतान् तांश्च दिवसान्
> न जाने को हेतुर्दलति शतधा यन्न हृदयम् ॥

इसमें विरहिणी की मर्मभरी बातें कितने साफ शब्दों में बताई गई हैं। विरहिणी अपनी प्यारी सखी से कह रही है कि हे सखि! जब प्रेम का बन्धन ढीला पड़ गया, हृदय से उसके लिये अत्यन्त सम्मान हट गया, जब सद्भाव की इति श्री हो गई, जब वह मेरा प्राणप्यारा साधारण स्नेहरहित मनुष्य की भाँति चला गया और इतने दिन भी बीत गए, परन्तु उसने मेरी कोई खोज खबर नहीं ली भला कहो तो सही कि तब किस सुख की आशा से यह हृदय अभी ठहरा हुआ है? टुकड़े २ नहीं हो जाता? ऐसी दशा में तो बस मरणं श्रेयः॥

—⁂—

स्वभाव-वर्णन

दुर्जन

सुबन्धु कवि की दुर्जन पर यह उक्ति कैसी अनूठी है :—

विषधरतोऽप्यतिविषमः खल इति न मृषा वदन्ति विद्वांसः।
यदयं नकुलद्वेषी स कुलद्वेषी पुनः पिशुनः॥

खल विषैले साँप से भी अत्यन्त भयङ्कर होता है; यह विद्वानों का कथन झूठा नहीं है। क्योंकि साँप नकुल-द्वेषी होता है—साँप नेवले से द्वेष करता है—इनका सदा का बैर है; परन्तु दुष्ट मनुष्य अपने कुल से बैर करने वाला होता है तथा पिशुन होता है। साँप न कुलद्वेषी है—वह कुलद्वेषी नहीं होता; परन्तु दुर्जन ऐसा होता है। अतः वह साँप से भी अधिक विषधर है। 'नकुलद्वेषी' पद इस आर्या की जान है, इस पद में सभङ्गश्लेष है। इसका एक अर्थ तो नकुल से द्वेष करने वाला है। दूसरा अर्थ 'न' पद को अलग करने पर 'अपने कुल से द्वेष करने वाला नहीं' (न + कुलद्वेषी) ऐसा होता है। आर्या का तात्पर्य यही है कि वास्तव में खल लोग साँप से भी अधिक भयकर है। वह तो केवल नकुलद्वेषी है (कुल द्वेषी नहीं है) परन्तु दुर्जन लोग तो अपने ही कुल से द्वेष करते हैं। बड़ी सुन्दर उक्ति है।

सज्जन तथा दुर्जन की तुलना कैसी अच्छी है—

अपूर्वः कोऽपि कोपाग्निः सज्जनस्य खलस्य च।
एकस्य शाम्यति स्नेहाद्वर्धतेऽन्यस्य वारितः॥

सज्जन तथा दुर्जन की कोपरूपी आग बड़ी अपूर्व है।

सज्जन की क्रोधाग्नि स्नेह (तेल तथा प्रेम) से शान्त हो जाती है परन्तु दुर्जन की कोपाग्नि-निवारण करने पर भी बढ़ती है। यहाँ भी 'स्नेह' तथा 'वारितः' पद श्लिष्ट हैं। स्नेह के तो दोनों अर्थ—प्रेम और तेल—प्रसिद्ध हैं। 'वारितः' के अर्थ हैं—रोका जाना तथा जल से। साधारण आग तेल पड़ने से बढ़ती है और जल से शान्त हो जाती है; परन्तु सज्जन तथा दुर्जन की कोपाग्नि इससे बिल्कुल विपरीत है। आशय है कि स्नेह करने से सज्जनों का क्रोध शान्त हो जाता है, परन्तु दुर्जनों का कोप निवारण करने पर भी बढ़ता ही जाता है।

शिरसि निहितोऽपि नित्यं यत्नादपि सेवितो बहुस्नेहैः।
तरुणीकच इव नीचः कौटिल्यं नैव विजहाति ॥

जिस प्रकार स्त्री के बाल सिर पर रखे जाने पर भी, रोज-रोज यत्न से तेल से सेवित होने पर भी, टेढ़ापन नहीं छोड़ते; ठीक वही दशा नीच की है। कितना ही आप उसे सिर चढ़ाइये, कितना ही स्नेह दिखाकर आप उसकी सेवा कीजिए; लेकिन वह अपनी कुटिलता तनिक भी नहीं छोड़ता। इस पद्य में दुर्जनों के सच्चे स्वभाव का सुन्दर वर्णन किया गया है।

किसी कवि की कल्पना कितनी ठीक है:—

अमरैरमृतं न पीतमब्धेर्न च हालाहलमुल्बणं हरेण।
विधिना निहितं खलस्य वाचि द्वयमेतद्बहिरेकमन्तरन्यत् ॥

देवताओं ने समुद्र के अमृत को नहीं पिया और न शिवने विषम हलाहल को ही पिया। ब्रह्मा ने खल के वचन में बाहर तो अमृत को रखा और भीतर हलाहल विष को भर दिया।

ल-संसर्ग पर क्या ही अच्छा रूपक है—

आनन्दमृगदावाग्निः शीलशाखिमदद्विपः ।
ज्ञानदीपमहावायुरयं खलसमागमः ॥

दुष्टों का साथ आनन्दरूपी मृग के लिये दावानल है—आनन्द को जला डालता है। शीलरूपी वृक्ष के लिये मत्त हाथी है—शील को उखाड़ फेंकता है। ज्ञान रूपी दीपक के लिये आँधी है। वह उसे शीघ्र ही बुझा डालता है। है भी वह ऐसा ही। सचमुच दुष्टों का साथ आनन्द को जला देता है, शील को तोड़ देता है और ज्ञान को बुझा देता है। सब सद्गुणों का नाश कर डालता है।

कोई हलाहल को लक्ष्य करके कह रहा है—

नन्वाश्रय स्थितिरियं तव कालकूट !
केनोत्तरोत्तरविशिष्टपदोपदिष्टा ।
प्रागर्णवस्य हृदये वृषलक्षणोऽथ
कण्ठेऽधुना वससि वाचि पुनः खलानाम् ॥

हे कालकूट ! एक से-एक ऊँचे जगह पर रहने का उपदेश तुमने किससे पाया है ? सबसे पहले तुम समुद्र के हृदय मे रहते थे, बाद शिवजी के गले मे रहने लगे और आज कल तुम दुष्टों के वचन मे रहते हो। यह नीची जगह से ऊपर रहने की शिक्षा किसने दी ?

अनुकुरुतः खलसुजनावग्रिमपाश्चात्यभागयोः सूच्याः ।
विदधाति रन्ध्रमेको गुणवानन्यस्तु पिदधाति ॥

दुर्जन और सज्जन सूई के अगले तथा पिछले भाग का अनुकरण करते हैं। जिस प्रकार अगला भाग छेद बनाता चलता है,

उसी भाँति खल दूसरे के दोषों का अन्वेषण करता है। जिस प्रकार डोरे के साथ पिछला भाग छेद को ढक देता है, उसी प्रकार गुणवान सज्जन दूसरों के दोषों को ढक देते हैं। भेद कितना अच्छा दिखलाया है।

सज्जन

गुणों की प्रशसा मे पतग का उदाहरण कितना अच्छा है—

अवलम्बितविष्णुपदः कर्षितजनचक्षुरतुलगतिः ।
पत्रमयोऽपि पदार्थः पतङ्गतामेति गुणयोगात् ॥

आकाश का अवलम्बन करने वाली, वेगशाली, मनुष्यों के नेत्र को आकर्षित करने वाली, कागज की भी बनी चीज गुण (रस्सी) के योग से पतगता (सूर्यत्व) को प्राप्त होती है। गुण ऐसे होते हैं कि कागज की चीज को पतग (सूर्य तथा तिलगी) बना देते हैं। धन्य है गुण।

यदमी दशन्ति दशना रसना तत्स्वादमनुभवति ।
प्रकृतिरियं विमलानां क्लिश्यन्ति यदन्यकार्येषु ॥

सफेद दाँत किसी चीज को चबाते हैं और जीभ उसके स्वाद का अनुभव करती है। यह विमल चीजों (सज्जनों) का स्वभाव है कि वे दूसरों के काम के लिये क्लेश सहते हैं।

सज्जनों को कोई उलाहना दे रहा है—

इयमुन्नतसत्त्वशालिनां महतां कापि कठोर-चित्तता ।
उपकृत्य भवन्ति दूरतः परतः प्रत्युपकार-शङ्कया ॥

उन्नत सत्त्व वाले बडे लोगों के कठोर चित्त का यह नतीजा है कि उपकार करके शीघ्र ही इस डर से हट जाते हैं, कि कहीं यह भी कुछ प्रत्युपकार न करने लगे—उलाहना कितना मीठा है।

महता प्रकृतिः सैव वर्धितानां परैरपि।
न जहाति निजं भावं संख्यासु लाकृतिर्यथा॥

बडे लोगों का स्वभाव बदलता नहीं, चाहे उनके पास कितनी भी सम्पत्ति क्यों न हो जाय। सम्पत्ति के समय मे भी पहले के समान रहते हैं। जिस प्रकार सख्याओं में लाकृति। लाकृति सस्कृत में नौ की सख्या को कहते है। नव का अक अपने पहाडे मे कई गुना बढ़ाये जाने पर भी ज्यों का-त्यों बना रहा है, इसी प्रकार सज्जन लोगों की दशा है। इसी दृष्टान्त का गोसाई तुलसी दास जी का यह दोहा सर्वत्र प्रसिद्ध है—

तुलसी राम सनेह करु, त्यागु सकल उपचार।
जैसे घटत न अंक नव, नव के लिखत पहार॥

किसी ठेठ मूर्ख के लिखने की शैली पर दृष्टिपात कीजिए कि उसकी कौन सी अलौकिक विशेषता है—

वाचयति नान्यलिखितं लिखितमनेनापि वाचयति नान्यः।
अयमपरोऽस्य विशेषः स्वयं च लिखति स्वयं न वाचयति॥

कुछ लोग ऐसे होते हैं जो स्वय भले ही न लिख पावें, परन्तु दूसरे का लिखा तो बाँच ही लेते हैं, परन्तु इस श्लोक के चर्चाविषय सज्जन दूसरे का लिखा बाँच नहीं सकते। न उनके द्वारा लिखा ही दूसरा कोई बाँच सकता है। उनके लिखने की रीति इतनी खराब है कि दूसरा कोई उनका लिखा बाँच नहीं

सकता अगर इतना ही होता, तो भी गनीमत थी परन्तु उनकी एक दूसरी भी विशेषता है वे स्वयं ही लिखते हैं और उसे स्वयं ही नहीं बाँच सकते। धन्य है ऐसा विलक्षण लिक्खाड और भगवान बचावे उस लेखके पढ़ने के प्रसङ्ग से।

प्राचीन कवियों तथा पण्डितों ने विशिष्ट देश के लोगों की रहन-सहन, बोलचाल के वर्णन के प्रसंगमे बड़ी यथार्थता का परिचय दिया है—अपने अनुभवके बलपर राजशेखरने अपनी काव्यमीमांसा में 'काव्यपाठ' के वर्णन के समय समस्त भारत के प्रान्तीय कवियों के काव्यपठनसौष्ठव के विषयमे अपनी अनुभूति के बल पर बड़ा ही सुन्दर विवेचन किया है। इसी के सातत्यमे गुजराती लोगों के उच्चारण के विषयमे यह श्लोक ध्यान देने योग्य है—

तुलसी तलसी जाता मुकुन्दोऽपि मकन्दताम्।
गुर्जराणां मुखं प्राप्य शिवोऽपि शवतां गतः॥

गुजरातियों के उच्चारण की विचित्रता तो देखिए। उनके उनके मुँह मे जाकर तुलसी 'तलसी' बन गया तथा 'मुकुन्द' भी 'मकन्द' हो गया तो आश्चर्य की बात क्या! 'शिव' भी 'शव' बन जाते हैं (ससार का परम कल्याणकारी शिव भी मृतकवाची 'शव' का रूप धारण करता है)। यह वर्णन यथार्थ है अन्तिम चरण का वैषम्य बड़ी मार्मिकता से प्रकट किया गया है।

अब गुजरातियों के उच्चारण वैलक्षण्य के सङ्गमे नागरों के स्वभावका भी विवेचन किसी प्राचीन आलोचक के मुखसे सुन लीजिए—

नाग-नागरयोर्मध्ये वरं नागो न नागरः ।
नागो दशत्येकवारं नागरस्तु पदे पदे ॥

नाग (साँप) तथा नागर (गुजरात का एक विशिष्ट ब्राह्मण वर्ग) की समना करने पर नाग अच्छा, नागर अच्छा नहीं । नाग तो एकबार ही डँसता है परन्तु नागर तो पदे पदे चरणचरण पर डँसता है । किसी के इस अनुभववाय पर टीका टिप्पणी करना व्यर्थ ही है ॥

ऊँच तथा नीच का भेदभाव उनकी प्रिय तथा अप्रिय वस्तुओं के परीक्षण से भी भलीभाँति किया जा सकता है इसी तथ्य की पुष्टि मे एक सुन्दर दृष्टान्त यहाँ प्रस्तुत किया गया है—

पित्तलाभरण-नित्त-लाभतो मानमावहति पामरी नरी ।
हार-मारकतसार-सम्भवं भारमेव मनुते कुलाङ्गना ॥

पामरी स्त्री—नीच स्वभाववाली नारी पीतल के बने हुए गहनों के लाभ से—उन्हें पहन कर-अपने हृदयमे बडे गौरव का अनुभव करती है । पीतल के गहनों से वह इतरा उठती है । इधर कुलाङ्गना—उच्च वशमें सम्भूत नारी की दशा का अवलोकन कीजिए । वह श्रेष्ठ मरकतमणि से बने हुए हारको भी भार ही मानती है—वह उसके शरीर पर बोझा ही जान पड़ता है । गहनों की इस पसन्दगी से दोनों के स्वभाव तथा विचार की भिन्नता का पूरा पता चलता है किसी भी सहृदय को ।

श्री हर्ष ने व्याकरणवालों की भी बडी मीठी चुटकी ली है ! देखिये वे क्या कहते है—

भङ्क्तुं प्रभुर्व्याकरणस्य दर्पं
पदप्रयोगाध्वनि लोक एषः ।
शशो यदस्यास्ति शशी ततोऽय-
मेवं मृगोऽस्यास्ति मृगीति नोक्तः ॥

लोक और व्याकरण मे पद प्रयोग के विषय मे सदा से विवाद चलता आ रहा है। व्याकरण को बड़ा घमण्ड है कि जो शब्द में सिद्ध करूंगा, लोक को उसे ही प्रयोग मे लाना पड़ेगा। परन्तु इस विषय मे व्याकरण से बढ़कर लोक का ही प्रामाण्य अधिक है। लोक व्याकरण के पद प्रयोग विषयक घमड को चूर २ कर डालने में खूब ही समर्थ हुआ है। तभी तो मृग-धारण करने पर भी तथा व्याकरण की रीति से सुसगत होने पर भी लोक=शशी, के जोड तोड पर चन्द्रमा को 'मृगी' कह नहीं पुकारते। नतीजा यही निकला कि पद प्रयोग के लिये लोक का ही अधिक प्रामाण्य है। बेचारे व्याकरणवाले 'मृगोऽस्यास्ति' विग्रहकर 'मृगी' शब्द की व्युत्पत्ति—करते ही रह गये, परन्तु लोक ने इनका तनिक भी ख्याल नहीं किया और अपनी मनमानी ही की—'मृगी' का चन्द्र के अर्थ मे प्रयोग होने ही न दिया। वैयाकरणों पर क्या ही सुन्दर चुटकुला है।

कलि के मुँह से श्रीहर्ष ने पाणिनि के एक सूत्र का विचित्र ही अर्थ करवा डाला है। जरा पाणिनि के सूत्रों को रटने वाले इस नवीन अर्थ को समझें और कवि की अनोखी सूझ को सराहें—

उभयी प्रकृतिः कामे सज्जेदिति मुनेर्मतः ।
अपवर्गे तृतीयेति भणतः पाणिनेरपि ॥

स्त्री तथा पुरुष प्रकृति दोनों काम में ही आसक्त रहा करें—अपवर्ग (मोक्ष) तो केवल तृतीया प्रकृति (नपुंसकों) के ही लिये है। 'अपवर्गे तृतीया' सूत्र बनाकर पाणिनि ने भी पूर्वोक्त बात को स्वीकार किया है। *बाहरी अनूठी सूझ, बिचारे पाणिनि को भी अछूता नहीं छोड़ा।*

सूत्रैः पाणिनि-कीर्तितैर्बहुतरैर्निष्पाद्य शब्दावलीं
वैकुण्ठस्तवमक्षमा रचयितुं मिथ्याश्रमाः शाब्दिकाः।
पक्वान्नं महता श्रमेण विविधापूपाग्र्य-रूपान्वितं,
मंदोऽग्नीननुरुन्धते मितबलान् नो घ्रातुमप्यक्षमान्॥

वैयाकरणों का इतना कठिन परिश्रम व्यर्थ है, पाणिनि के बहुत सूत्रों से शब्दावली को सिद्ध करके भी वे विष्णु की एक स्तुति—पद्य बनाने में असमर्थ हैं। शब्दों के सिद्ध करने से क्या लाभ, जब वे उनकी योजना नहीं कर सकते। उनकी दशा ठीक उस भोजन के समान है जो अत्यन्त परिश्रम से तैयार किया गया है, जो नाना व्यंजनों से सुशोभित हो परन्तु ऐसे कमजोर मन्दाग्नि वाले मनुष्यों को खाने के लिए दिया गया हो जो उसका गन्ध तक सूंघने में असमथ हों, खाने की तो बात ही न्यारी है। इस उदाहरण में कितना चमत्कार है, असमर्थता *किस खूबी से दर्शायी गयी है। वैयाकरणों को इससे शिक्षा* लेनी चाहिए और अपनी दशा सुधारनी चाहिए।

प्रहरी

प्रहरकमपनीय स्वं निदिद्रासतोचैः
प्रतिपदमुपहूतः केनचिज्जागृहीति।

मुहुरविशदवर्णा निद्रया शून्यशून्यां
ददददपि गिरमन्तर्बुध्यते नो मनुष्यः ॥

प्रातः काल में झपकी लेने वाले सिपाही का क्या ही खासा स्वाभाविक वर्णन है। चौकीदार अपने समय को बिताकर सोना चाहता है, वह दूसरे पहरेदार को "जागो, जागो" पद-पद पर जगा रहा है। वह पहरेदार जगाते हुए भी सो रहा है। नींद के मारे अनर्थक कुछ आँय बाँय शब्द कह रहा है अवश्य, परन्तु फिर भी वह सो जाता है, जागकर भी अपने पहरे पर नहीं जाता। क्या ही सुन्दर स्वाभाविक वर्णन है।

मूर्ख

एतत्तस्य मुखात्कियत्कमलिनीपत्रे कणं वारिणो-
यन्मुक्तामणिरित्यमंस्त स जडः शृण्वन्यदस्मादपि।
अङ्गुल्यग्रलघुक्रियाप्रविलयिन्यादीयमाने शनैः,
कुत्रोड्डीय गतो ममेत्यनुदिनं निद्राति नान्तःशुचा ॥

कोई मनुष्य अपने मित्र से किसी मूर्ख की बात कह रहा है कि भाई, मैं उसकी हालत क्या कहूँ? वह ऐसा जड़ है कि कमलिनी के पत्ते पर गिरे हुये ओस के कण को मुक्तामणि समझता है, भला ऐसा भी कोई मूर्ख होगा। मित्र ने उत्तर दिया—एक दूसरे जड़ात्मा का हाल तो सुनो। कमलिनी के दल पर गिरा हुआ ओसकण उसकी अंगुली के अगले हिस्से के छूते ही जमीन पर गिर पड़ा—गायब हो गया। परन्तु उस मूर्ख को रात को सोच के मारे नींद नहीं आती है, यह सोचा करता है कि हाय! अंगुली के छूते ही यह मेरा चमकता मोती कहाँ

उड़ गया, बस इसी में वह हैरान है। रातदिन इसी सोच में बीत जाते हैं, नींद दर्शन नहीं देती। कहो उससे वह बड़ा मूर्ख नहीं है? असली बात यह है कि मूर्खों को इसी प्रकार अयोग्य वस्तुओं में ममता हुआ करती है। कितना रमणीय उदाहरण है मूर्खों की अवस्था का ममता का पता कैसे सुन्दर शब्दों में दिया गया है। काव्यप्रकाश में यह पद्य अप्रस्तुतप्रशंसा के उदाहरण में उद्धृत किया गया है।

इस भाव का यह एक दूसरा पद्य 'भल्लटशतक' में मिलता है—

आहूतेषु विहङ्गमेषु मशको नायान् पुरो वार्यते—
मध्ये वारिधि वा वसंस्तृणमणिर्धत्ते मणीनां रुचम्।
खद्योतोऽपि न कम्पते प्रचलितुं मध्येऽपि तेजस्विनां-
धिक् सामान्यमचेतनं प्रभुमिवानामृष्टतत्त्वान्तरम्॥

यदि विहङ्गमों (आकाश में उड़ने वाले पक्षी आदि) के बुलाये जाने पर मशक भी हवा में उड़ने के कारण आवें, तो रोका नहीं जा सकता है। समुद्र के बीच में रहने के कारण तृणमणि भी मणि की शोभा धारण करता है। तेजस्वियों के मध्य में खद्योत भी अपने को तेजवाला समझकर चलता है—जलाता नहीं। अतएव सामान्यधर्म को धिक्कार है। मणित्व रहने के कारण से ही तृणमणि की भी गणना उन चमकीले रत्नों में होती है। दोष सामान्यधर्म (मणित्व) का ही है। सामान्यधर्म उसी भाँति निन्दनीय है, जिस प्रकार गणों के तत्त्व को न समझने वाला कम-अक्ल मालिक (जो अपने

आश्रितजनों के गुणों को न जानकर सब के साथ एक-सा व्यवहार करता है)। अप्रस्तुतप्रशंसा के दोष दिखलाने के लिये यह पद्य काव्यप्रकाश में दिया गया है।

समुद्र

अयं वारामेको निलय इति रत्नाकर इति
श्रितोऽस्माभिस्तृष्णातरलितमनोभिर्जलनिधिः।
क एवं जानीते निजकरपुटीकोटरगतं
क्षणादेनं ताम्यत्तिमिमकरमापास्यति मुनिः॥

कोई समुद्र को जल का खजाना कहता है, तो कोई रत्नों का आकर। हम लोगों के गले प्यास के मारे सूख गये थे—विषय तृष्णा के मारे वास्तव में हमारे मन चञ्चल हो गये थे। हमने समझा कि हमारा मनोरथ समुद्र देव क्यों न पूरा कर देंगे। वे पानी के घर हैं और रत्नों के खजाने। इसी आशा में बँधकर हमने उनकी सेवा की। परन्तु कौन जानता था कि अगस्त्यजी इसे अपनी करपुटी ही में रखकर सोख जायेंगे— इतने बड़े सागर को, जिसमें मत्स्य तथा मकरों की असंख्य संख्या निवास करती है केवल आचमन कर डालेंगे। अरे! हम बहुत ठगे गये। नाम सुनकर आये, परन्तु वास्तव में प्रशंसा के योग्य कुछ भी नहीं पाया। ठीक है 'दूर का ढोल सुहावना होता है'। कहिये निराशा की पराकाष्ठा कैसी दर्शनीय है। काव्यप्रकाश में मम्मट ने इस पद्य को विरोधाभास के दृष्टान्त में दिया है।

हाथी

नीवारप्रसवाग्रमुष्टिकवलैर्यो वर्धितः शैशवे
पीतं येन सरोजपत्रपुटके होमावशेषं पयः।
तं दृष्ट्वा मदमन्थरालिवलयव्यालुप्तगण्डं गजं
सोत्कण्ठं सभयं च पश्यति मुहुर्दूरे स्थितस्तापसः॥

हाथी का वर्णन है। लड़कपन में नीवार धान की मुट्ठी भर-भर कर कौर देकर जो बढ़ाया गया था, जिसने कमल के पत्ते के दोने में होम से बचे जल को पिया था, मद से मन्थर भ्रमर-समूह से आच्छादित गण्डस्थलवाले उसी हाथी को देख कर तपस्वी दूर पर खड़ा होकर उत्कण्ठा तथा डर के साथ देख रहा है। परिचित होने से उत्कण्ठा है, परन्तु उसे मदमत्त देख कर लगता है। अब उसके पास फटकने की हिम्मत उसमें नहीं है। केवल दूर पर ही खड़ा होकर देख रहा है।

यह पद्य सुभाषितावलि (नं० ६३७) में गजवर्णन में उद्धृत किया गया है, परन्तु उससे पूर्व ही क्षेमेन्द्र ने अपने "औचित्यविचारचर्चा" में इसे राजपुत्र मुक्तापीड का बतलाया है, और इसे भयानकरस के अनौचित्य प्रदर्शन के अवसर पर उद्धृत किया है।

भ्रमर

अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृंग
लोलं विनोदय मनः सुमनोलतासु।
मुग्धामजातरजसं कलिकामकाले
व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमल्लिकायाः॥

रे भौंरे! तेरे मर्दन को सहने वाली अन्य पुष्पलताओं में अपने चंचल चित्त को विनोदित कर। अनखिली केसर रहित इस नवमल्लिका की छोटी कली को अभी असमय में क्यों व्यर्थ में दुःख दे रहा है। अभी तो उसमें केसर भी नहीं है। बिचारी खिली तक नहीं है। इसे दुःख देना क्या तुझे सुहाता है? यहाँ से हट जा।

महाकवि बिहारी का यह बहुशः चर्चित दोहा इसी पद्य के आशय को ग्रहण कर रचा गया माना जाता है :—

नहि पराग नहि मधुर मधु नहि विकास यहि काल।
अली कलीहीसों बँध्यो आगे कवन हवाल॥

ऊख

परार्थे यः पीडामनुभवति भंगेऽपि मधुरो
यदीयः सर्वेषामिह खलु विकारोऽप्यभिमतः।
न संप्राप्तो वृद्धिं स भृशमक्षेत्रपतितः
किमिक्षोर्दोषोऽयं न पुनरगुणाया मरुभुवः॥

बेचारा ईख कितना परोपकारी है। दूसरे के लिये पीड़न सहता है, पेरा जाता है। तोड़ने पर मीठा रहता है। उसका गुड़, चीनी आदि विकार भी लोगों को पसन्द आता है। यदि ऐसा ईख अक्षेत्र (ऊसर) में गिर जाने से बढ़ न सका तो क्या यह दोष ईख ही का है? गुड़ न रखने वाली मरुभूमि का कोई दोष नहीं? किसी दुर्जन के अकस्मात् संग करने वाले सज्जन की दुरवस्था का क्या ही सुन्दर वर्णन है। आनन्दवर्धन ने इस पद्य को दो बार ध्वन्यालोक में उद्धृत किया है।

जीवन में नैराश्य

निशालं शाल्मल्या नयनसुभगं फुल्लकुसुमं
शुकस्यासीद् बुद्धिः फलमपि भवेदस्य सदृशम्।
इति ध्यात्वोपास्तं फलमपि च दैवात्परिणतं
विपाके तूलोऽन्तः सपदि मरुता सोऽप्यपहृतः॥

विशाल सेमर के वृक्ष मे नयन को सुख देने वाले फूल खिले हुए थे। शुक की दृष्टि उस पर पडी, सोचा कि जब फूल इतना रमणीय है तब इसका फल भी अवश्य ही ऐसा ही मनोरम होगा। इसी विचार से उसने सेमर की सेवा की। ईश्वर की दया से प्रकृति की प्रेरणा से उसमे फल भी निकल आये। शुक को आशा बधी थी कि पकने पर ये हो न हो, अवश्य मधुर तथा सुन्दर होंगे। परन्तु पकने पर भीतर से क्या निकला? केवल रुई। और उसे भी वायुदेव ने शीघ्र उडा डाला। जिस आशा से बेचारा शुक इतना आनन्द पाता था इतने दिनों तक जिस फल की प्रतीक्षा की, वह अन्त मे बिल्कुल शून्य निकला, आशा निराशा मे परिणत हो गयी। कहिये कितनी सुन्दर सूक्ति है। आधुनिक 'दिखाऊ मल्लों' की प्रकृति का कैसा सच्चा परिचय दिया गया है।

जीवन की अनित्यता

ऋतुर्व्यतीतः परिवर्तते पुनः क्षयं प्रयातः पुनरेति चन्द्रमाः।
गतं गतं नैव तु सन्निवर्तते जलं नदीनाञ्च नृणाञ्च यौवनम्॥

गई हुई ऋतु फिर भी लौट आती है। क्षीण चन्द्रमा फिर भी

बढ़ता है। ये दोनों प्राकृतिक पदार्थ क्षीण होने पर भी वृद्धि पा जाते हैं पर नदियों का जल और मनुष्यों का यौवन सदा के लिये चला जाता है। क्षीण होने पर फिर नहीं बढ़ता। इसी के समान भाव का कविवर रुद्रट का यह श्लोक भी संस्कृतज्ञों में खूब प्रसिद्ध है—

क्षीणः क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयो विवर्धते नित्यम्।
विरम विरम सुन्दरि यौवनमनिवर्ति यातं तु॥

शरीर की अनित्यता दर्शाने वाला यह श्लोक देखिये—

शरीरमामादपि मृन्मयाद् घटादिदं तु निःसारतमं मतं मम।
चिरं हि तिष्ठेद् निधिवद् धृतो घटः समुच्छ्रयोऽयं सुधृतोऽपि भिद्यते

इस शरीर में बल का लेश भी नहीं है। इसे व्याधि, जरा, तथा मृत्युरूपी शत्रुओं ने बुरी तरह दबोच रखा है। यह शरीर मिट्टी के कच्चे घड़े के समान क्षणभंगुर है। मेरी राय है कि यह शरीर मिट्टी के घड़े से भी निःसार है। यदि घड़े को ठीक-ठीक काम में लगावें, तो यह बहुत दिनों तक ठहर भी सकता है। परन्तु यह शरीर अच्छी तरह से रखने पर भी टूट जाता है, ठहर नहीं सकता।

पद्य कितनी सुन्दरता से शरीर की क्षणभंगुरता सिद्ध कर रहा है।

दरिद्रता

एक आधी रात को मातृगुप्त की वास्तविक दशा का परिचय राजा विक्रम को एक विलक्षण घटना के द्वारा हुआ। हेमन्त की सनसनाहट करती हुई हवा बह रही थी। महल के कुछ दीपक हवा के झोंके से काँप रहे थे और कुछ तो एकदम

घुस गये थे। राजा ने दीपकों की बाती ऊँची करने के लिये पहरेदार को पुकारा, परन्तु इस निर्जन निशीथ में सब सो रहे थे। भूख-प्यास का मारा केवल मातृगुप्त ही जाग रहा था। फलतः उसी ने राजा को जवाब दिया और राजा के पूछने पर अपनी उन्निद्रता का कारण कविता के माध्यम से झट कह सुनाया—

शीतेनोद्धूषितस्य माषशिमिवत् चिन्तार्णवे मज्जतो-
शान्ताग्निं स्फुटिताधरस्य धमतः क्षुत्-क्षामकण्ठस्य मे।
निद्रा क्वाप्यवमानितेव दयिता संत्यज्य दूरं गता-
सत्पात्रप्रतिपादितेव वसुधा नो क्षीयते शर्वरी॥

शीत से आक्रान्त हो कर ओठ काँपने से, क्षुधा से कण्ठ सूख जाने से, चिन्तारूपी समुद्र में डूबता हुआ मैं बुझती हुई आग को फूंक रहा था। ऐसी दुर्दशा में अपमानित की गई दयिता के समान निद्रा मुझे छोड़ कर भाग गई। परन्तु सत्पात्र को दी गई वसुधा के समान रात्रि की इति नहीं हो रही है।

हाथी

त्यक्तो विन्ध्यगिरिः पिता भगवती मातेव रेवा नदी-
ते ते स्नेहनिबन्धबन्धुरधियस्तुल्योदया दन्तिनः।
त्वल्लोभान्ननु हस्तिनि! स्वयमिदं बन्धाय दत्तं वपुः
त्वं दूरे भ्रियसे लुठन्ति च शिरःपीठे कठोरांकुशाः॥

हाथियों के पकड़ने के लिये पालतू हथिनी जगलों में छोड़ दी जाती है। उसी के संग में हाथी अपने झुण्ड को छोड़ चला आता है और पकड़ लिया जाता है। ऐसे ही पकड़े गये

हाथियों का करुण क्रन्दन है—हे हथिनी ! तुम्हारे लोभ में पड़कर मैंने पिता विन्ध्याचल को छोड़ दिया। माता के समान पालने वाली नर्मदा से विमुख हुआ। अत्यन्त स्नेही समान वयस्क अपने बन्धुवर्ग हाथियों को भी छोड़ दिया। इतना ही नहीं, अपने प्यारे शरीर को भी बधन में डलवा दिया। यह सब तेरे लोभ में पड़ने से ही हुआ। आशा थी तुम्हारे संग की। परन्तु अब मैं अपनी भूल समझता हूँ। तुम तो दूर खड़ी हो और मेरे शिर पर कठोर अंकुश बरस रहे हैं।

करिशावक

अपने दुर्भाग्य पर शोक करने वाले करिशावक को लक्ष्यकर कविजी कह रहे हैं—

घासग्रासं गृहाण त्यज गजकलभ ! प्रेमबन्धं करिण्याः
पाशग्रन्थिव्रणानामभिमतमधुना देहि पङ्कानुलेपम् ।
दूरीभूतास्तवैते शबरवर वधूविभ्रमोद्भ्रान्तरम्या-
रेवाकूलोपकण्ठद्रुमकुसुमरजोधूसरा विन्ध्यपादाः ॥

हे हाथी के बच्चे ! हथिनी का प्रेम अब छोड़ दो। वह तो तुम्हें बन्धन में डालकर भाग गई है। घास के ग्रास लो, और तुम्हारे शरीर पर रस्सी बाँधने से जो घाव हो गये हैं उन पर कीचड़ का लेप लगाओ। अब तुम्हें विन्ध्याटवी में फिर लौट जाने की कोई आशा नहीं। शबर-सुन्दरियों के विलास से रमणीय और रेवातट पर उगने वाले वृक्षों के पुष्प पराग से धूसर वर्णवाले विन्ध्याचल की पहाड़ियाँ अब तुम से बहुत दूर हो गई हैं।

अन्तिम दोनों ही पद्य कवि के हाथियों से विशेष परिचय तथा प्रेम को द्योतित कर रहे हैं।

कचहरी

चिन्तासक्तनिमग्नमन्त्रिसलिलं दूतोर्मिशङ्खाकुलं-
पर्यन्तस्थितचारनक्रमकरं नागाश्वहिंस्राश्रयम्।
नानावाशककङ्कपक्षिरुचिरं कायस्थसर्पास्पदं
नीतिक्षुण्णतटश्च राजकरणं हिंस्रैः समुद्रायते॥

इस श्लोक मे राजकरण कचहरी का खूब सच्चा वर्णन किया गया है। शूद्रक का कहना है कि कचहरी समुद्र की तरह जान पड़ती है। चिन्तामग्न मन्त्री लोग जल हैं, दूतगण लहर तथा शंख की तरह जान पड़ते हैं—इधर-उधर दूर देशों मे घूमने के कारण दोनों की यहाँ समता दी गई है। चारों ओर रहने वाले 'चार'—आजकल के खुफिया पुलिस—घड़ियाल हैं। यह समुद्र हाँथियों तथा घोड़ों के रूप मे हिंस्र पशुओं से युक्त है। तरह-तरह के ठग तथा पिशुन लोग बगुले हैं। कायस्थ मुशी लोग जहरीले सर्प हैं। नीति से इस का तट टूटा हुआ है। यह प्राचीनकाल के राजकरण का वर्णन है, आजकल, की कचहरी तो कई अंशों मे इससे भी बढ़कर है। कचहरी मे पहले-पहल पैर रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति को शूद्रक के वर्णन की सत्यता का अनुभव पद-पद पर होगा।

सेवक

नैषां संन्ध्याविधिरविकलो नाच्युतार्चापि साङ्गा,
न स्वे काले हवनर्नियमो नापि वेदार्थचिन्ता।

न क्षुद्वेला-नियतमशनं नापि निद्रावकाशो,
न द्वौ लोकावपि तनुभृता राजसेवापराणाम् ॥

सरकारी नौकर न तो पूरी सन्ध्या करते हैं, न साङ्गोपाङ्ग विष्णु की पूजा करते हैं और न तो वेदाध्ययन करते हैं। इस प्रकार उनको परलोक बनाने वाले कोई कार्य करने का समय नहीं मिलता। इस ससार के सुखों का स्वाद भी वे नहीं ले सकते। न तो वे नियत समय से भोजन करते हैं और न ठीक समय सोते ही हैं अत उनके लिए न तो परलोक है न इहलोक। इस प्रकार वे, दोनों का नाश करते हैं। वास्तव मे यह दशा १७ वीं सदी से थी, जब अंग्रेजों का आगमन हुआ था आज तो उससे भी बुरी हो गयी है। पाठक आजकल के सरकारी नौकरों की अवस्था को खूब जानते होंगे।

कावेरी के तट पर आकाशचुम्बी लम्बे लम्बे वृक्षों का क्या ही सुन्दर वर्णन है —

भाग्य

भाग्य भी बड़ प्रबल होता है। उसके सामने किसी की भी नहीं चलती। भाग्य मे जो होता है, वही होता है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन व्यावहारिक परिचित उदाहरणों के द्वारा कितनी सुन्दरता के साथ किया गया है—

सच्छिद्रो मध्यकुटिलः कर्णः स्वर्णस्य भाजनम् ।
धिग् दैवं निर्मलं नेत्रं पात्रं कज्जलभस्मनः ॥

कान की दशा देखिए। उसमे छेद है। साथ-ही-साथ वह बीच में टेढ़ा भी है। ऐसे कुरूप कान में सोने का गहना पहनते हैं। लड़के

सोने का कुण्डल पहनते हैं तथा सुन्दरियाँ सुवर्ण का कर्ण-भूषण (इअरिंग) पहनती हैं। कुरूप चीज का इतना आदर! परन्तु बेचारे निर्मल नेत्र की अवस्था देखिए। उनमें केवल काला काजर पोता जाता है। भाग्य को धिक्कार है! कान जैसा खोटा आदमी तो धनी मानी हो—सोनेवाला हो और नेत्र जैसा निर्मल पुरुष निन्दा का पात्र हो! इस विषम व्यवहार के लिए भाग्य को शतशः धिक्कार!

स्तुति

अद्यापि दुर्निवारं स्तुति-कन्या वहति कौमारम्।
सद्भ्यो न रोचते साऽसन्तोऽप्यस्यै न रोचन्ते॥

स्तुति नाम की एक कन्या है। उनकी दशा बड़ी विचित्र है। अब तक वह कुमारी ही बनी है। उसका यह 'कौमार'—कुँआरपन—किसी के हटाए हट नहीं सकता। क्यों भई? बात क्या है? क्या उसके योग्य कोई वर संसार मे मिलता नहीं, जिसके साथ उसका पाणिग्रहण महोत्सव सम्पन्न हो? हाँ, सचमुच उसके अनुरूप पति का अभाव है। सज्जनों को वह नहीं रुचती-सज्जन उसे पसन्द नही करते और दुर्जन लोग उसे नहीं रुचते—पसन्द नहीं आते। शादी हो तो कैसे हो? सज्जनों को यह पसन्द करती है; परन्तु वे लोग तो स्तुति—प्रशंसा—को नहीं चाहते। दुर्जन उसके लिए लालायित रहते हैं—प्रशंसा की सतत कामना किया करते हैं, परन्तु वह इनके पास जाना नहीं चाहती। यही कारण है कि आज तक भी कुँआरी ही बनी हुई है—विवाह ही नहीं हुआ। स्तुति के सच्चे स्वरूप का क्या ही सुचारु वर्णन है।

मित्रता

मित्रता के विषय में यह दृष्टान्त कितना बढ़िया है :—

करोतु तादृशीं प्रीतिं यादृशी नीरपंकयोः ।
रविणा शोषिते नीरे पंक-देहो विशीर्यते ॥

प्रीति तो जल और पंक के समान करनी चाहिये। जल और कीचड़ का प्रेम कैसा श्लाघनीय है। जब सूर्य जल को सुखा देता है, तो पंक की देह टुकड़े-टुकड़े हो जाती है। मित्र के मरने पर अपना शरीर भी नाश कर देना युक्त ही है। धन्य आदर्श मित्रता!

पुरुष

अशनं मे वसनं मे जाया मे बन्धुवर्गो मे ।
इति मे मे कुर्वाणं कालवृको हन्ति पुरुषाजम् ॥

मेरा भोजन है, मेरा वस्त्र है, मेरी स्त्री है, मेरा यह बन्धु-वर्ग है। इस प्रकार मे-मे (मेरा-मेरा) करने वाले पुरुष रूपी बकरे को कालरूपी भेड़िये मार डालता है। जब तक पुरुष विषयों में लिप्त है, तब तक उसे मृत्यु इस संसार से ले भागती है। रूपक कैसा रमणीय है! बकरा भी तो 'में-में' किया करता है। उसको खबर भी नहीं रहती, उधर भेड़िया आकर उसे मार ले भागता है। ठीक यही दशा मनुष्यों की होती है। वे भी सदा 'मे'-'मे' (यह मेरा है, यह मेरा है) किया करते हैं। जब तक ये बेचारे संसार के प्रपंच में फँसे ही रहते हैं, तब-तक भयानक काल उन्हें आ घेरता है और इस संसार से उन्हें ले भागता है। श्लोक का भाव खूब साफ सुथरा है।

अधिकारी

अधिकारपदं प्राप्य नोपकारं करोति यः।
अकारो लोपमात्रेण ककारद्वित्वतां भजेत् ॥

किसी अधिकार के पद को पाकर यदि कोई मनुष्य समुचित उपकार नहीं करता, तो वह अधिकार शब्द के अकार लुप्त होने पर ककार की द्वित्वता (धिक्कार) को प्राप्त होता है अर्थात् सब जगह उसे धिक्कार ही मिलता है—निन्दा ही होती है—प्रशंसा कोई नहीं करता।

जल

कोई जल को कैसा अच्छा उलाहना दे रहा है—

अब्जं त्वज्जमथाब्जभूस्तत इदं ब्रह्माण्डमण्डात् पुन-
र्विश्वं स्थावर-जङ्गमं तदितरं त्वन्मूलमित्थं पयः।
धिक् त्वां चौर इव प्रयासि निभृतं निर्गत्य जालान्तरै-
र्बध्यन्ते विवशास्त्वदेकशरणास्त्वामाश्रिता जन्तवः ॥

जल से ही कमल पैदा हुआ; कमल से ब्रह्मा, ब्रह्मा से सारा स्थावर जंगम संसार पैदा हुआ है। तुमही इसकी जड़ हो; परन्तु तुम चोर के समान जालों के छेद से होकर चुपचाप भाग जाते हो। और तुम्हारे शरण में रहने वाले अवश जीव (मछली) बाँधे जाते हैं। अतः तुम्हें धिक्कार है! शरणागत की रक्षा करना सज्जन का कार्य है; परन्तु आश्रित मछलियों का साथ छोड़ भाग जाना कितना अनुचित है।

तेली

तेली पर कैसी अच्छी उक्ति है—

अमी तिलास्तैलिक ! नूनमेतां स्नेहादवस्थां भवतोपनीताः ।
द्वेषोऽभविष्यद्यदमीषु नूनं तदा न जाने किमिवाकरिष्यः ॥

हे तेली ! तुमने स्नेह (तेल तथा प्रेम) से इन तिलों की यह अवस्था कर डाली है। यदि तुम्हारा इन पर द्वेष होता, तो न मालूम तुम क्या करते ! प्रेम से तो इनको पेर डाला है, तो द्वेष से तो और भी बुरी गत करते । तुम्हारा प्रेम भी विचित्र है।

घड़ा

दृढतर-गलकनिबन्धः कूपनिपातोऽपि कलश ते धन्यः ।
यज्जीवनदानैस्त्वं तृषामपैं नृणां हंसि ॥

हे घड़ा ! गले में अच्छी तरह कसकर बाँधे जाकर कुएँ में तेरा गिरना भी श्लाघनीय है; क्योंकि तुम जीवन (जल) का दान देकर मनुष्यों की प्यास दूर करते हो। विपत्ति में पड़े हुये परोपकारी सज्जन पर यह अन्योक्ति खूब घटती है।

सोनार

सोना सुनार से कह रहा है—

हे हेमकार पर-दुख-विचार-मूढ !
किं मां मुहुः क्षिपसि वारशतानि वह्नौ ।
संदीप्यते मयि सुवर्णगुणातिरेको
लाभः परं तव मुखे खलु भस्मपातः ॥

हे सुनार! तुम दूसरों के दुःख को नहीं समझते हो। क्यों मुझे बारम्बार अग्नि में फेंक रहे हो? तपाये जाने पर मेरे गुणों की वृद्धि होगी; परन्तु तुम्हारे मुख पर तो केवल राख गिरेगा— *तुम्हें तो कुछ भी लाभ नहीं होगा।*

दीपक

दीपक पर उक्ति है—

> यां कान्तिं वहसि परां प्रदीप! भद्र
> स्वीयासाविति मास्म मन्यथा त्वम्।
> सस्नेहे त्वयि निशि भानुनाऽऽहिताऽसौ
> नैवं चेदहनि सति क्व वा गता सा॥

हे दीपक! जो अत्यन्त शोभा तुम धारण करते हो, इसे अपना कभी न समझो। सूरज रात को डूब जाता है और रात में स्नेही (मित्र तथा तेल से भरा) जानकर तुम को अपनी कान्ति दे देता है; अतएव उदय होने पर वह शोभा तुम मे नहीं दिखाई देती। सूर्य के मित्र होने से यह कान्ति तुम्हें मिली है। यह तुम्हारी थोड़ी है।

बाण

बाण पर क्या ही अनूठी कल्पना है।

> कोटिद्वयस्य लाभेऽपि नतं सद्वंशजं धनुः।
> असद्वंश्यः शरः स्तब्धो लक्षलाभाभिकांक्षया॥

हानि-लाभ दो ही कोटि (अन्त) के मिलने पर अच्छे वंश में उत्पन्न होनेवाला धनुष नम्र हो गया है। ताँत से दोनों अन्तभागों को मिलाने पर धनुष नमित हो जाता है। नीच वंश

(बाँस) में उत्पन्न होनेवाला शर लक्ष (लाख रुपया तथा लक्ष्यवस्तु) पाने की इच्छा से ज्यों-का-त्यों निश्चल खड़ा है। धनुष चलाने के समय बाण नम्र नहीं ज्यों-का-त्यों सीधा बना रहता है। ऊँच तथा नीच का ठीक यही स्वभाव है।

आम्र

वायु तथा आम्रलता का यह संवाद कितना रोचक है।

चिराश्रान्तो दूरादहमुपगतो हन्त मलयात्
तदेकं त्वद्गेहे तरुणि ! परिणेष्यामि दिवसम्।
समीरेणोक्तैवं नवकुसुमिता चूतलतिका
धुनाना मूर्धानं नहि नहि नहीत्येव वदति ॥

सुदूर मलयाचल से आते-आते मैं अत्यन्त थक गया हूँ। अतएव हे युवती लता! तुम्हारे पास एक दिन रहना चाहता हूँ। कहो तो रहूँ? वायु की यह बात सुनकर नई फूली हुई आम्रलता अपने सिर को हिलाती हुई कह रही है, नहीं। लम्पट वायु को रहने का स्थान कौन दे?

इस पद्य के सम्बन्ध में पण्डित समाज में एक रोचक कथानक प्रसिद्ध है। किसी कवि तथा किसी आलोचक में झगड़ा लगा कि किसका दर्जा ऊँचा है? कवि का अथवा आलोचक का? दोनों में कौन श्रेष्ठ है? कविता बनाने वाला या कविता का मर्म समझने वाला? कविजी ने अपनी कविता की मस्ती में झूमते हुये फर्माया—कि कवि का आसन श्रेष्ठ है; वह तो काव्य-जगत् का विधाता है, दूसरा प्रजापति है। उधर आलोचकजी ने मीठी हँसी-हँसते हुए कहा—कि यदि आलोचक न हो तो कवि

का गुन कोई समझ ही नहीं सकता। अत क्वयिता से भावयिता श्रेष्ठ है। कविजी यह मानने के लिये तैयार नहीं थे। तब आलोचक ने कवि से कोई सूक्ति पढने को कहा। कवि ने अपना वही 'चिरश्रान्तो दूरात्' पद्य पढा। आलोचक ने पूछा—कि कहिये, तीन बार 'नहि' शब्द के प्रयोग करने से आप ने कौन सा भाव समझा ? कविजी ने कहा, कि केवल निषेध को परिपुष्ट करने के लिये तीन बार इस शब्द का प्रयोग किया गया है। आलोचक ने कहा—कि तब तो आप कुछ नहीं समझे। 'नहि' के तीन बार प्रयोग करने का अभिप्राय यही है कि मैं पुष्पवती हूँ—तीन दिनों तक में आप के सगम के अयोग्य हूँ। उसके बाद मेरा सग आप कर सकते हैं। कविजी इस अभिप्राय को सुनकर चुप रह गये। वास्तव में भावुक का स्थान कवि से श्रेष्ठ नहीं, तो उससे घट कर नहीं है —

> कविः करोति काव्यानि पण्डितो वेत्ति तद्रसम्।
> कामिनीकुचकाठिन्यं पतिर्जानाति नो पिता ॥

आम की प्रशसा सुनकर और फलों की कैसी विचित्र दशा हो गई है —

> आकर्ण्याम्रफलस्तुतिं जलमभूत्तन्नारिकेलान्तरं
> प्रायः कण्टकितं तथैव पनसं जातं द्विधोर्गोरुकम्।
> आस्तेऽधोमुखमेव कादलमलं द्राक्षाफलं क्षुद्रतां
> श्यामत्वं बत जाम्बवं गतमहो मात्सर्यदोषादिह ॥

आम की स्तुति सुनकर ईर्ष्या के मारे अन्य सब फलों की विचित्र दशा हो गई। नारियल के पेट मे पानी ही पानी हो

गया। कटहल में काँटे निकल आए। फूट का हृदय फट गया—वह दो टुकडे हो गया। कदलीफल—केला—ने लज्जा के मारे अपना मुँह लटका लिया। बेचारे अगूर छोटे बन गये। जामुन के फल मत्सरता के कारण काले पड गए। बात यह है कि इन फलों को अपनी मिठास पर नाज था—वे गर्व से इतराते थे, परन्तु अपने से अच्छे फल को देखकर ईर्ष्या होना स्वाभाविक है। ये सोचने लगे कि आम के सामने अब हमे कौन पूछेगा ? इसी कारण इनकी ऐसी शोचनीय दशा हो गई। चलिए, अच्छा हुआ। आम को अपनी मधुरता की सर्टिफिकेट तो मिल गई ! सचमुच आम के सामने इन फलों की पूछ नहीं।

आम की प्रशंसा मे इसी पद्य से मिलता-जुलता यह एक दूसरा भी मनोहर पद्य है—

त्रपाश्यामा जम्बू स्फुटितहृदयं दाडिमफलं
सशूलं संधत्ते हृदयमभिमानेन पनसम्।
अभूदन्तस्तोयं तरुशिखरजं लाङ्गलिफलं
समायाते चूते जगति रसराजे रसमये॥

तराज़

तराज़ू की यह शिकायत कितनी सच्ची है—

गुरुषु मिलितेषु शिरसा प्रणमसि लघुषून्नता समेषु समा।
उचितज्ञाऽसि तुले ! किं तुलयसि गुञ्जाफलैः कनकम्॥

हे तराजू ! तुम उचित बात को जानने वाली हो। वस्तु के स्वभाव को पहचानकर उसके साथ उसी तरह का व्यवहार करने वाली हो। जब कोई गुरु (भारी तथा श्रेष्ठ) वस्तु तुम्हारे पास

आती है, तब तुम उसे सिर से प्रणाम करती हो। गुरुजन के सामने सिर नवाना उचित ही है। लघु (हल्की तथा छोटी) वस्तु के मिलने पर तू ऊँची उठ जाती हो। बराबर वाले के साथ समता का व्यवहार करती हो। अतः आचरण से जान पड़ता है कि तू व्यवहार जानती हो; परन्तु तुम्हारे चरित्र में एक बड़ा दूषण मुझे प्रतीत हो रहा है। सोना जैसे मूल्यवान् पदार्थ को गुञ्जा जैसे तुच्छ वस्तु से तू क्यों तौलती हो? ऐसा करना क्या तुम्हें जायज़ है—उचित है?

यही शिकायत अन्य कवि दूसरे ढंग से कर रहा है—

प्राप्य प्रमाणपदवीं को नामास्ते तुलेऽवलेपस्ते।
नयसि गरिष्ठमधस्तात् तदितरमुच्चैस्तरां कुरुषे॥

हे तराजू! तू तो प्रमाणभूत हो। सन्देह होने पर लोग तुम्हारे ही शरण में मापने के लिए आते हैं; परन्तु फिर भी यह तुम्हारा गर्व कैसा बुरा है कि तू बड़ी (भारी तथा पूज्य) वस्तु को नीचे ले जाती हो और हल्की चीज को ऊपर उठाती हो। चाहिए तो यह था कि बड़ी चीज को ऊपर स्थान दिया जाय और छोटी चीज को नीचे; परन्तु प्रमाण भूत होने पर भी तुम्हारा व्यवहार कितना उल्टा है। तराजू पर भारी चीज रखने पर नीचे बैठ जाती है और हल्की चीज ऊपर उठ जाती है। इसी व्यवहार को लक्ष्य कर यह उलाहना दिया गया है।

चरखा

आज कल भारत में एक प्रकार से चरखे का जमाना है—चर्खा-युग है। इसलिये चर्खे के साथ किसी सहृदय का निम्नलिखित कथनोपकथन बड़ी दिलचस्पी के साथ पढ़ा जायगा।

कोई सुन्दरी चर्खा चला रही है। उसे देखकर कोई सहृदय सज्जन कह रहे हैं :—

रे रे यन्त्रक ! मा रोदीः कं कं न भ्रमयन्त्यमूः ।
कटाक्षाक्षेपमात्रेण कराकृष्टस्य का कथा ॥

मियाँ ! चरखे ! क्यों रो रहे हो ? जानते नहीं किनके हाथ में पड़े हो ? ये हैं वे सुन्दरियाँ जो केवल अपने कटाक्षों से सबको घुमा डालती हैं। इन्होंने किसको नहीं घुमा रखा है ? इनके फन्दे में पड़ने से भला कोई बच सकता है ! कटाक्ष क्षेप करने पर तो यह दशा होती है। फिर तुम तो हाथ से खींचे जा रहे हो। तुम्हारी बात क्या कही जाय ! शब्द करते हुए चरखे के ऊपर कवि की कितनी बढ़िया कल्पना है !

इस मीठे उलाहने को सुनकर चरखे से नहीं रहा गया। झट-पट वह कहने लगा—

विप्रः सपक्षो ह्युपवीतधारी
युक्त्या स्वरार्थं भ्रमयन् स्वहस्तम् ।
शिष्योऽस्मि नार्या न तु रोदनं मे
शब्देन वेदाध्ययनं करोमि ॥

भैया ! आपने मुझे जाना नहीं कि मैं कौन हूँ। मैं हूँ यज्ञोपवीत धारण करनेवाला ब्राह्मण। मेरे शरीर पर जो सूत लपेटा हुआ है, वही मेरा जनेऊ है। स्वर के लिए मैं युक्ति से अपने हाथ को घुमा रहा हूँ। मैं तो इस सुन्दरी का शिष्य हूँ। मैं रो नहीं रहा हूँ, बल्कि शब्द करके वेदपाठ कर रहा हूँ। यह मेरे रोने का शब्द नहीं है, प्रत्युत मेरे वेद पाठ करने का शब्द है।

अत में जनेऊ धारण करने वाला वेदपाठी ब्राह्मण हूँ। आपने मेरे स्वरूप को ठीक ढग से पहचाना नहीं। चरखे का यह जबाव कितना माकूल है—उत्तर कितना युक्ति-युक्त है। इसे पढकर चरखे की हाजिरजवाबी पर चित्त रीझ जाता है—मन प्रसन्न होकर नाचने लगता है। ईश्वर करे इस वेदाभ्यासी वटुक का प्रवेश प्रत्येक भारतीय गृह में शीघ्र ही हो जाय।

ऊँट

गुजरात के किसी राजा के दरबार में कवियों का जमघट लगा था—सब अपनी कविता की मस्ती में झूम रहे थे। इतने में राजा ने एक समस्या दी और इसकी तत्काल पूर्ति के लिए प्रार्थना की। समस्या थी—काक किं वा क्रमेलक (कौआ अथवा ऊँट)। सभा के सबसे प्रधान कवि सोमदेव ने झट से इसकी पूर्ति यों कर डाली—

येनाऽऽगच्छन् ममाख्यातो येनानीतश्च मत्पतिः।
प्रथमं सखि ! कः पूज्यः काकः किं वा क्रमेलकः॥

कोई राजस्थानी रमणी अपनी सखी से कह रही है, कि तू ही बता किसकी मैं पहले पूजा करूँ—सम्मान दिखलाऊँ? कौवे की या ऊँट की? जब पति घर की ओर आ रहा था, तब उसके आने की खबर कौवे ने दी—कौवे की प्यारी बोली सुनकर मुझे उसके आने की सूचना मिली। इस प्रकार वह मेरे लिए पूजनीय है। ऊट भी उसी प्रकार माननीय है, क्योंकि वही मेरे पति को यहाँ लाया—उसी की पीठ पर चढकर मेरे प्रियतम ने इतना बड़ा बीहड रेगिस्तान पार किया। तू ही बता, किसकी पूजा मैं पहले

करूँ ? क्या ही बढ़िया समस्या-पूर्ति है। सच पूछिए, तो राजस्थानी रमणी को ऊँट के ही प्रति प्रथम सम्मान दिखलाना उचित है। ऊँट तो रेगिस्तान का जहाज ठहरा। बिना उसके भला कोई उसे पार कर सकता है ? इसीलिए यह दूसरी राजस्थान की सुन्दरी उसी के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट कर रही है —

आयाते दयिते मरुस्थलभुवामुद्वीक्ष्य दुर्लङ्घ्यतां
तन्वङ्ग्या परितोषबाष्पतरलामासज्य दृष्टिं मुखे।
दत्त्वा पीलुशमीकरीरकवलं स्वेनाञ्चलेनादरात्
उन्मृष्टं करभस्य केसरसटाभारावलग्नं रजः॥

जब प्रियतम घर पर आया, तब नायिका ने मरुभूमि की दुर्लङ्घ्यता का विचार कर ऊँट की ओर सन्तोष से आँसू बहाने वाली दृष्टि डाली और उसके सामने पीलु, शमी तथा करीर का कौर देकर आदर से स्वयं अपने आंचर से उसके कन्धे पर लगी हुई धूल को झाड़ बुहार कर साफ किया। कृतज्ञता प्रकाश करने का यह ढंग अच्छा है। कवि लोग तो क्रमेलक की गात्र विसंष्ठुलता की भर पेट निन्दा किया करते हैं। चलिए, एक भी तो कृतज्ञ हृदय मिला जिसने ऊँट के प्रति उचित सम्मान दिखलाया। बिना राजस्थान के ऊँट की प्रशंसा अन्यत्र कहाँ हो सकती है ?

बुढ़ापा

बुढ़ापे में दाँत बाहर निकल आने का क्या ही अच्छा कारण किसी कवि ने खोज निकाला है—

मलिनैरलकैरेतैः शुक्लत्वं प्रकटीकृतम् ।
तद्रोपादिव निर्याता वदनाद्रदनावली ॥

इन काले केशों ने भी शुक्लता प्रकट की; इससे मानो क्रोध से दाँत बाहर निकल आये हैं। दाँत सोचते हैं कि जब काली चीजें भी सफेद होने का दावा कर रही हैं, तब हमारा रहना अब ठीक नहीं है। अतः वे रोष से मुख से बाहर निकल आए हैं। कितनी अच्छी कल्पना है!

मनुष्य जीवन की निःसारता पर किसी की उक्ति है—

वीक्ष्यते पलितश्रेणिर्नैव वृद्धस्य मूर्धनि ।
मृषैव नीतं जन्मेति किन्तु भस्म विधिर्न्यधात् ॥

बूढ़े के सिर पर सफेद बाल नहीं दिखाई पड़ते। उसने अपना जन्म व्यर्थ ही बिताया, मानो इस आशय से ब्रह्मा उसके सिर पर भस्म की ढेर लगाये हुये हैं। जीवन का कोई भी फल नहीं हुआ; व्यर्थ ही उसे बिताया। सफेद बाल मानव मात्र को यही बता रहे हैं।

सफेद बाल पर बड़ी अच्छी उक्ति है—

इयत्यामपि सामग्र्यां सुकृतं न कृतं त्वया।
इतीव कुपितो दन्तानन्तकः पातयत्यलम् ॥

इतनी सब सामग्री होने पर भी तुमने कुछ भी पुण्य नहीं किया। इस कारण से मानो क्रुद्ध होकर यमराज उसके सिर पर दाँत गड़ा रहा है। सफेद बाल क्या हैं, मानो यम के उजले दाँत हैं।

बुढ़ापा और कलियुग की समता कितने प्रसन्न श्लेष के द्वारा प्रकट की गई है—

श्रुतिः शिथिलतां गता स्मृतिरपि प्रनष्टाधुना
गतिर्विपथमागता विगलिता द्विजानां ततिः।
गवामपि संहतिः समुचितक्रियातश्च्युता
कृता न जरया तया कलियुगस्य साधर्म्यता ॥

श्रुति (कान की शक्ति तथा वेदधर्म) शिथिलता को प्राप्त हो गई; अब स्मृति (स्मरण तथा मनु आदि धर्मस्मृति) एकदम नष्ट हो गई; गति (गमन तथा आचरण) विपथ (उन्मार्ग) को प्राप्त हो गई; द्विज (दन्त तथा ब्राह्मण) की पंक्ति टूट गई; गो (इन्द्रिय तथा धेनु) का समुदाय भी अपनी समुचित क्रिया से च्युत हो गई—इस प्रकार बुढ़ापा ने अपने नाना प्रकार के कार्यों से क्या कलियुग की सधर्मता नहीं प्राप्त की ? जरूर की है। दोनों में आश्चर्यजनक समता कविजी ने श्लेष के सहारे इस पद्य में प्रदर्शित की है।

बुढ़ापा पुण्य न करने वालों को भी कौन देवता नहीं बनाती है—श्लेष की चमत्कार तो देखिए:—

यममिव करधृतदण्डं हरिमिव सगदं शशाङ्कमिववक्रम्
शिवमिव च विरूपाक्षं जरा करोत्यकृतपुण्यमपि ॥

पुण्य न करने वाले प्राणी को बुढ़ापा यमराज बना देती है क्योंकि दोनों के हाथ में दण्ड विराजता है; विष्णु के समान वह प्राणी को सगद (रोगयुक्त तथा गदायुक्त) बना देती है।

धक चन्द्रमा के समान वह टेढ़ा कर देती है। वह शिव बना देती है, क्योंकि दोनों के नेत्र विकृत हो जाते हैं (शिवजी त्रिलोचन हैं तथा वृद्ध नेत्र रोग से युक्त है) सच है बुढ़ापा प्राणी को एक साथ ही यम, विष्णु, चन्द्र तथा शिव बना देती है। धन्य है श्लेष की महिमा ! अच्छा हुआ, बिना कोई पुण्य किये ही विष्णु तथा शिव का रूप तो प्राप्त हो गया। अब सोचिये तो सही क्या बुढ़ापे ने उपकार नहीं किया ? अवश्य किया।

यह तो हुई कवि की प्रतिभा की उड़ान। अब वास्तव जगत् में आकर देखिये कि बुढ़ापे के कौन से कारण हैं जो उसे बुलाते हैं और पालते पोषते हैं—

शीतम्, अध्वा, कदन्नं च, वयोऽतीताश्च योषितः।
मनसः प्रातिकूल्यं च जरायाः पञ्च हेतवः॥

बुढ़ापे के पाँच कारण होते हैं-(१) शीतम्—अधिक ठढक का लगना, (२) अध्वा—रास्ता चलना (जो प्राणी अधिक रास्ता चलता है, वह जल्दी ही बूढ़ा हो जाता है), (३) कदन्नम् बुरे अन्न का भोजन, (४) वृद्धा स्त्री के साथ सहवास, (५) मन की प्रतिकूलता। मनकी अनुकूलता रहने पर, चित्त में उल्लास रहता है और इस उल्लास से आयु की वृद्धि होती है, परन्तु प्रतिकूलता के कारण मन हमेशा पस्त रहता है और आयु घटने लगती है। बुढ़ापा आ धमकती है। इस पद्य के उपदेश को ध्यान में रख कर सर्वदा बुढ़ापे को दूर भगाने का उद्योग करना चाहिए।

कृतान्तस्य दूती जरा कर्णमूले
समागत्य वक्तीति लोकाः शृणुध्वम्।

परस्त्रीपरद्रव्यवाञ्छां त्यजध्वं
भजध्वं रमानाथपादारविन्दम् ॥

बुढ़ापे में बाल सफेद हो जाते हैं। ज्ञात होता है कि यम की दूती जरा (बुढ़ापा) बालों के रूप में मनुष्य के कान के पास आकर कहती है कि ऐ लोगों ! सुनो, दूसरे की स्त्री तथा धन की इच्छा छोड़ो ; अब रामचन्द्र के चरणों को भजो। समय आ गया है। कूच की तैयारी है। प्रपंच से हटो। कुछ तो पुण्य कमाओ। क्या ही अच्छा उपदेश है !

बुढ़ापे की लकड़ी

या पाणिग्रहलालिता सुसरला तन्वी सुवंशोद्भवा
गौरी स्पर्शसुखावहा गुणवती नित्यं मनोहारिणी ।
सा केनापि हृता तया विरहितो गन्तुं न शक्तोऽस्म्यहं
हे भिक्षो ! तव कामिनी, नहि नहि प्राणप्रिया यष्टिका ॥

जिसका हाथ पकड़ कर मैंने प्यार किया था, जो पतली थी, सरल थी, अच्छे वंश में उत्पन्न हुई थी उजली थी, छूने में सुखद थी, गुणवाली थी, मन को हरने वाली थी—हाय ! उसे आज किसी ने चुरा लिया है। उसके बिना मैं चलने में बिल्कुल असमर्थ हूँ। एक बूढ़ा भिखारी अकेले में बैठा हुआ इस प्रकार विलाप कर रहा था इतने में भीड़ जुट आई। लोगों ने समझा इसकी स्त्री कहीं भटक गई है। उसी के लिए यह रो रहा है—अतः एक ने पूछा; कहो भिखारी, क्या तुम्हारी कामिनी को किसी ने बहका लिया है। बूढ़े ने कहा—नहीं भैया, मेरी प्राणों से भी प्यारी छड़ी खो गई

है। बुढ़ापे मे लकड़ी का बड़ा सहारा होता है। किसी हजरत ने इस बुढ्ढे की लकड़ी चुरा ली थी। अतएव यह बेचारा विलाप कर रहा था। ठीक है, बुढ़ापे मे लकड़ी प्राणों से भी प्यारी होती है।

'अपह्नुति' अलङ्कार खूब रमणीयतया प्रयुक्त हुआ है।

पूर्बिया लोग

अङ्गानि मोटयति वारि करोत्यपेयं
शुष्काण्यपि व्यथयति व्रणमण्डलानि।
यद्देशजः पवन एव करोति बाधां
तद्देशजाः किमु नराः सुखदा भवन्ति॥

इस पद्य मे पुरुबिया लोगों को चरित्र की विचित्र आलोचना है। पूरब के लोगों की बात अलग रखिये। पहले वहाँ के हवा की—पुरवैया हवा की—लीला देखिये। यह अङ्गों को मरोड़ती है, पानी को अपेय (पीने के अयोग्य) बनाती है; सूखे हुये भी घावों को सरस बना कर दुखाती है। भला ऐसी करतूत जिस देश के जीवन के आधार वायु की हो, वहाँ के रहने वाले क्या सुख देने वाले होंगे? नहीं, हरगिज नहीं। वायु की जब यह विचित्र दशा है तब वहाँ के लोगों की हालत क्या कही जाय। उनसे लाभ तथा सुख की आशा दुराशा मात्र है। हमारे बंगाली भाइयों से क्रुद्ध हुये किसी सहृदय कवि का यह मनोरम हृदयोद्गार है। यह पद्य अपने विषय में बड़ा अनूठा है।

भूस्वर्ग

यदि रामा यदि च रमा
यदि तनयो विनयधीगुणोपेतः।

तनयात् तनयोत्पत्तिः
सुरवननगरे किमाधिक्यम् ॥

यदि घर में प्रियवादिनी भार्या हो, रामा के साथ रमा-लक्ष्मी-का भी निवास हो, यदि पुत्र विनयी तथा विद्वान् हो और यदि पुत्र को भी पुत्र उत्पन्न हो अर्थात् पौत्र के भी मुख देखने का सौभाग्य प्राप्त हो, तब स्वर्ग लोक में इससे अधिक क्या है ? यह भूतल ही स्वर्ग समान है। इस मर्त्य लोक के समस्त सुखों का उल्लेख इस पद्य में किया गया है। जिसके घर में पद्योक्त वस्तुओं की सत्ता विद्यमान है, वह वास्तव में नितान्त सुखी है—मनुष्य लोक में सुरलोक का आनन्द मनाता है।

खटमल

कोई कवि खटमलों के मारे बेहद तंग था—इन्होंने उसे नितान्त क्लेश दिया था। इसी उद्विग्न अवस्था में उसने यह खोज से भरी रचना लिखी—

कमले कमला शेते हरः शेते हिमालये।
क्षीराब्धौ च हरिः शेते मन्ये मत्कुणशङ्कया ॥

लक्ष्मी कमल के ऊपर सोती हैं। शिव हिमालय पर्वत पर सोते हैं और विष्णु भगवान् क्षीर सागर में। मुझे जान पड़ता है कि ये लोग इन स्थानों पर खटमलों के डर से सोते हैं; क्योंकि उन स्थानों में खटमल कहाँ; यदि ऐसा नहीं होता, तो इन विचित्र स्थानों पर सोने की जरूरत क्यों रहती। कविजी की खोज आनन्ददायक है।

कलि-महिमा

आज-कल के कलियुगी लोगों का विचित्र चरित्र देखने ही लायक है—

न सन्ध्यां संधत्ते नियमित-'निमाजान्' न कुरुते
न वा मौञ्जीबन्धं कलयति न वा 'सुन्नत'-विधिम् ।
न 'रोजां' जानीते व्रतमपि हरेर्नैव भजते
न काशी मक्का वा शिव-शिव न हिन्दुर्न यवनः ॥

आज कल के लोग न तो सन्ध्या वन्दन करते हैं और न नियमित रूप से नमाज ही पढ़ते हैं। न तो यज्ञोपवीत धारण करते हैं और न सुन्नत ही करते हैं। न रोजा जानते हैं, न विष्णु के व्रत। न उन्हें काशी से स्नेह है और न मक्का से मुहब्बत ! शिव ! शिव !! न वे हिन्दू हैं, न मुसलमान ! भला किसी धर्म के अनुसार तो चलते। यहाँ तो धर्म के नाम से घृणा है—मजहब के नाम से चिढ़ है। आज कल की धार्मिक प्रवृत्ति का यह पद्य सुन्दर निदर्शन है। आज कल धार्मिक झमेले बहुत हैं—मजहबी झगड़े बहुतसी हैं; परन्तु भीतर बिलकुल पोला है, ऊपरी-ही ऊपर मजहबी दिखावा है—बाहरी ढोंग है। वर्णन नितान्त स्वभाविक और सत्य है।

चातक

चातक आदर्श स्नेही माना जाता है। वह प्रेमी है, स्वाती जल से दूसरा जल कितना ही मीठा क्यों न हो, परन्तु वह अपनी आन का इतना पक्का है, कि वह उसे पीयेगा ही नहीं। इस सिद्धान्त की पुष्टि इस कथनोपकथन से कितने सुन्दर ढग से हो रही है—

रे रे चातक ! पतितोऽसि मरुता गंगाजले चेत् तदा
पेयं नीरमशेषपातकहरं काऽऽशा पुनर्जीवने ।
मैवं ब्रूहि लघीयसो यमभयादुद्ग्रीवताम्रुज्झता
गङ्गाम्भः पिबता मया निजकुले किं स्थाप्यते दुर्यशः ॥

हवा झोंके से बह रही है। इसी झोंके में कोई चातक पुण्य सलिला भगवती भागीरथी के जल में गिर गया है। वह बहा चला जा रहा है और करीब मरने को है। उसी समय कोई सज्जन उसे सीख दे रहा है कि हे चातक ! समस्त पातकों को दूर करनेवाले गगा-जल को पी डालो। भला, अब जीने की कोई आशा है ? इस मनोरम उपदेश को सुनकर अपनी आन पर जान देनेवाला नेही चातक कह रहा है—भैया, मुझे ऐसा न सिखलाओ। यमराज का डर मेरे लिये एक अदनी सी चीज है। भला इस छोटी सी चीज के लिये मैं अपनी ऊपर उठी चोंच को नीचे कर गगा का जल पीऊँ और अपने कुल में कलङ्क लगाऊँ ? हम तो स्वाती के जल पीने वाले हैं। गगा का जल पीकर अपने तुच्छ प्राणों को बचाकर क्या मैं अपने सुप्रसिद्ध कुल के नाम में बट्टा लगाऊँ ? नहीं-नहीं चातकजी, आपका कहना ठीक है, आप अपनी अकीर्ति मत फैलाइये—

सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ।

चातक की दृढ़ प्रतिज्ञता का कितना सुन्दर दृष्टान्त है। प्रतिज्ञा की वेदी पर अपने प्रिय प्राणों को न्योछावर करने वाले सत्पुरुषों पर यह अन्योक्ति कितनी अच्छी तरह घटती है।

चातक की मनस्विता की प्रशंसा कौन नहीं करता। तुलसी-दास ने अपनी दोहावली के अनेक दोहों के द्वारा चातक को *अनन्य प्रेमी बतलाने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है।* संस्कृत के कवि भी इस विषय में किसी से पीछे नहीं हैं। चातक की मनस्विता के विषय में किसी प्राचीन कवि की यह उक्ति कितनी सुन्दर है—

गंगा शम्भुशिरोजलं जलनिधिर्देवस्य लक्ष्मीपतेः
शय्याक्षालनवारि, वारि सरसः क्लीबस्य निन्द्यं सताम्।
नद्यस्ताः शतशोऽन्ययोषित इति त्यक्तोपभोगो युवा
सारङ्गः सततोन्नतेन शिरसा धाराधरं याचते॥

चातक गंगा का जल नहीं पीता, क्योंकि वह तो शिव के मस्तक का जल (उपयोग में लाया गया जल) है। समुद्र लक्ष्मी नारायण के सेज को पखारने वाला जल है। नपुंसक सरोवर का जल सज्जनों की दृष्टि में नितान्त निन्दनीय है। तब नदियों का ही जल वह क्यों नहीं पीता? नदियाँ भी दूसरी की भार्यायें ठहरीं। उसके जल में पवित्रता कहाँ? इन्हीं कारण वह युवा चातक अन्य सब जल का उपयोग छोड़कर बैठा हुआ है और वह सिर उठाकर केवल मेघ से ही जल माँगता है, क्योंकि यही जल अनुपभुक्त, सरस तथा नवीन है। देखिये, इस पद्य में अन्य जलों की हीनता बतलाने के लिए कैसी युक्तियाँ दी गई हैं। श्लोक रुचिर तथा आकर्षक है।

कड़े घूप में अत्यन्त प्यासा भी चातक अपना-कुलव्रत तनिक

भी शिथिल नहीं करता। 'जोसोक' (१२ वीं शती) नामक कवि के इस पद्य पर दृष्टिपात कीजिए:—

तृषार्तो शोचन्तीं न गणयति दीनां गृहवतीं
न दीनः पक्षाभ्यां स्थगयति शिशूनालपति वा।
कुटुम्बी सारङ्गः प्रसरति निदाघेऽप्यविकलः
कुलस्य स्वस्यायं पथि न पदमल्पं श्लथयति॥

प्यास से दुःखित शोक में निमग्न अपनी प्रियतमा का यह तनिक ख्याल नहीं करता। यह दीन होने पर भी अपने बच्चों को अपने डैनों से ढकता नहीं और न प्यास के मारे अपने आप चिल्लाता है। ग्रीष्म के उत्कट ताप के फैलने पर भी कुटुम्बी चातक तनिक भी व्याकुल नहीं होता। वह अपने कुल के मार्ग पर अपने पैरों को थोड़ा भी शिथिल नहीं करता। धन्य है उसका यह आचरण !

मेघ तथा चातक के चरित्र की यह तुलना कितनी मार्मिक है। 'जलचन्द्र' कवि का यह श्लोक सचमुच ही सुन्दर तथा प्रतिभासम्पन्न है :—

विष्वक् प्लावयता जगन्ति जलद ! प्रीतस्त्वया वारिभिः
सारङ्गोऽपि यदि प्रसङ्गपतितः केयं विशेषज्ञता।
सानन्दाः स्तुमहे चिराय चरितं तस्यैव तेन त्वयि
क्षीणेऽपि क्वचिदेव नाम्भसि मनागाऽऽरोपि चञ्चूपुटः॥

हे जलद ! तुमने अपने जल बरसाकर समस्त संसार को चारों ओर भर दिया—बाढ़ आ गई। यदि चातक भी

इस प्रसग मे आप्लुत हो गया, तो कौन बडी बात हुई। इसमें तुम्हारी विशेषज्ञता कहॉ ठहरी। तुम योग्य तथा अयोग्य दोनों से एक समान ही समझ कर जल बरसाते हो। तुमने चातक की भक्ति को तो नहीं पहचाना। प्रशसा तो है उस चातक की जो क्षीण होने पर भी किसी दूसरे जल मे अपनी चोंच पीने के यत्न से कभी नहीं रखता। अर्थात् वह विशेषज्ञ होने से तुम से कहीं अधिक बढा चढा तथा विज्ञ है।

कुभृत्य

किसी बडे आदमी के नौकर का नवीन वर्णन सुनिये। देखिये हजरत मे कितने गुन है :—

आहारे वडवानलश्च शयने यः कुम्भकर्णायते
सन्देशे बधिरः पलायनविधौ सिंहः शृगालो रणे।
अन्धो वस्तुनिरीक्षणेऽथ गमने खञ्जः पटुः क्रन्दने
भाग्येनैव हि लभ्यते प्रभुजनैरेवंविधः सेवकः॥

भोजन मे बडवानल, शयन मे कुम्भकर्ण के समान, सन्देश सुनने मे बहिरा, भागने मे सिंह, लडाई मे सियार, वस्तु के देखने मे अन्धा, चलने मे लँगडा तथा रोने मे तेज—ऐसा विचित्र नौकर बडे भाग्य से मिलता है। भगवान् न करें ऐसा नौकर किसी स्वामी को नसीब हो।

मन

मन को कोई कवि उपदेश दे रहा है—

दुखाङ्गारकतीव्रः संसारोऽयं महानगो गहनः।
इह विषयामृतलालस ! मानसमार्जार ! मा निपत॥

हे मनरूपी मार्जार ! यह संसार एक विकट रसोई घर है। दुःखों के अँगारों से यह तप्त हो रहा है। तू विषयरूपी अमृत को चाहता है। इस घर में न आवो। भला, यहाँ अमृत जैसी शीतल वस्तु की प्राप्ति कहाँ ! यहाँ तो दुःख के अँगारे धधक रहे हैं। इस के पास मत आ, नहीं तो आग में जल जाओगे। विषय-लोभी मन के लिए लोलुप मार्जार (बिलाव) से समता कितनी ठीक है ! सचमुच सुन्दर है !

मन को सम्बोधित कर किसी की यह उक्ति बड़ी विचित्र है—

मनः ! कुत्रोद्योगः सपदि वद मे गम्यपदवीं
नरे वा नार्य्यां वा गमनमुभयत्राप्यनुचितम्।
यतस्ते क्लीबत्वं प्रतिपदमहो हास्यपदवीं
जनस्तोमे मा गास्त्वमनुसर हि ब्रह्मपदवीम् ॥

हे मन ! कहाँ जाने की तैयारी है ? जरा कहिये किधर जा रहे हैं आप ? किसी मनुष्य पर क्या आपकी दृष्टि पड़ी है या किसी नायिका पर मुग्ध हो गये हैं ? परन्तु तुम्हें नर या नारी से क्या काम ? क्योंकि तुम ठहरे क्लीव (नपुंसक)। जहाँ जाओगे वहीं तुम्हारी हँसी उड़ेगी। अतः मनुष्यों की भीड़ में मत जाओ; पुरुष या स्त्री सब तुम्हें देखकर हँसेंगे। मैं तुम्हारे जाने की जगह बताये देता हूँ। तुम ब्रह्म के पास जाओ, क्योंकि ब्रह्म भी नपुंसक है। वहीं पर तुम्हारा ठीक गुजारा होगा। (संस्कृत व्याकरण के अनुसार मनस् तथा ब्रह्मन् शब्द दोनों नपुंसक हैं) नपुंसक को नपुंसक के ही साथ ठीक पटती है। आशय है कि विषय वासना को छोड़कर ब्रह्म में लग जाओ।

इसे सुनकर मन ने भी क्या ही अच्छा उत्तर दिया —

इह हि मधुरगीतं रूपमेतद्रसोऽयं
स्फुरति परिमलोऽसौ कोमलः स्पर्श एषः।
इति हृतपरमार्थैरिन्द्रियैर्भ्राम्यमाणः
स्वहितकरणधूर्तैः पञ्चभिर्वञ्चितोऽस्मि ॥

इस जगत् मे क्या ही रसीला गाना है, कितना सुन्दर रूप है। कितना मीठा रस है, कितनी आनन्द-दायिनी सुगन्धि है, कितना कोमल स्पर्श है। इस प्रकार परमार्थ का नाश करने वाले तथा अपने ही हित की परवा करने वाले पाँचो इन्द्रियो से मैं घुमाया जारहा हूँ। मैं कुछ कर तो सकता नहीं, विषय-वासना मे मुझे लिप्त कराके इन इन्द्रियों ने मुझे ठग लिया है। मैं इनका दास बन गया हूँ। अत किस प्रकार मैं ब्रह्म से जाकर मिलूँ? उक्ति क्या ही ठीक है। मन ने बात बडे पते की कही। यदि एक ही इन्द्रिय से पल्ला छुडाना होता, तब तो बात कुछ सीधी होती, परन्तु यहाँ तो पाँच इन्द्रियों की दासता है। जान बचे तो कैसे बचे। इन्द्रियों ने मन को भरमा डाला है। बेचारा स्वतन्त्र थोड़े है जो ब्रह्म से जाकर मिले। भला, पाँच मालिकों का नौकर कोई काम अपने मन से कर ही क्या सकता है? यह सूक्ति बडे मजे की है।

गोपाल

गोपालकृष्ण से कोई भक्त उलाहना दे रहा है —

गोपाल इति मत्वा त्वां प्रचुरक्षीरवाञ्छया।
श्रितो मातुः स्तनक्षीरमपि लब्धुं न शक्नुयाम् ॥

हे कृष्ण ! तुम तो गोपाल हो—गौवों की रक्षा करने वाले अहीर हो। इसी विचार से खूब दूध पाने की अभिलाषा से मैं आपके पास आया। इच्छा थी कि चलो, इस अहीर के पास चलें। वहाँ मुझे खूब दूध पीने को मिलेगा; परन्तु यहाँ तो उलटी गंगा बहने लगी। 'प्रचुर क्षीर' की तो बात पृथक् रहे यहाँ तो अपनी माता के दूध मिलने में भी आफत है—मुझे तो वह भी नहीं मिल रहा है। सुन्दर व्याजस्तुति है ! आशय यह है कि आपके आश्रय मे आते ही आपने मेरा संसार से उद्धार कर दिया। अब पुनर्जन्म ही न होगा, तब भला माता का दूध कैसे मिलेगा। बहुत बढ़िया भाव है !

मुरलीधारी को कोई गोपी उलाहना दे रही है :—

मुरहर ! रन्धनसमये मा कुरु मुरलीरवं मधुरम् ।
नीरसमेधो रसतां कृशतनुतां कृशानुरप्येति ॥

हे मुरारि ! जब मैं भोजन बनाती हूँ, तब तुम अपनी बंशी की तान मत छेड़ो। तुम्हारी मुरली बड़ी मधुर है। उसे सुनकर सबका हृदय आर्द्र हो जाता है। चेतन पदार्थों की कौन कहे, यहाँ तो अचेतन की बात सुनिए। सूखी हुई लकड़ी भी सरस हो उठती है—गीली हो जाती है। धधकती आग भी धीमी पड़ जाती है। मैं रसोई बनाऊँ, तो कैसे बनाऊँ ? भोजन के सिद्ध होने की कोई आशा ही नहीं दीखती। अतः कृपया रीधने के समय मुरली की टेर मत सुनाओ। वाह रे मधुर मुरली की मोहनी शक्ति ! जब सूखी लकड़ी मे रस पैदा हो जाता है, तो चेतन जन्तुओं के चित्त की दशा का क्या वर्णन किया जाय !

प्रार्थना

आनीता नटवन्मया तव पुरः श्रीकृष्ण या भूमिका
व्योमाकाशखखाम्बराब्धिवसवस्त्वत्प्रीतयेऽद्यावधि ।
प्रीतस्त्वं यदि चेन्निरीक्ष्य भगवन् स्वप्रार्थितं देहि मे
नो चेद् ब्रूहि कदापि माऽऽनय पुनस्त्वेतादृशीं भूमिकाम् ॥

हे भगवन् श्रीकृष्ण ! इस भूरङ्गमंच पर मैं नट ठहरा। आपकी प्रसन्नता के लिए मैंने चौरासी लाख भूमिका (पार्ट) की रचना की। इस पृथ्वी पर जन्म धारण कर भिन्न भिन्न ढंग का स्वांग बनाया। अभिप्राय एक ही था—आपको प्रसन्न करने का। यदि आप हमारे इस अभिनय से प्रसन्न हैं, तो जो मैं माँगता हूँ, उसे आप दीजिए। यदि आप प्रसन्न नहीं हैं तो आज्ञा दीजिए, इस तरह की भूमिका कभी में आपके सामने न लाऊं। मुझे पृथ्वी तल पर फिर आने की नौबत न हो, कोई भूमिका रचने का अवसर ही न आवे। 'दुहू हाथ मुद मोदक मेरे।' आप प्रसन्न हों, चाहे अप्रसन्न। मुझे तो बस एक समान फल मिलेगा—बस इस भूतल पर पुनर्जन्म न हो। उठा लो, प्रभो ! मुझको इस संसार प्रपंच से, बना लो अपने चरणों का सेवक, जिससे मैं आपके ही संग सतत आनन्द मनाऊँ।

ठीक यही भाव इस छप्पय का भी है —

कबहुँक खग मृग मीन कबहुँ मर्कट तनु धरिके।
कबहुँक सुर नर असुर नाग मय आकृति करिके॥
नटवत लखि चौरासि स्वांग धरि धरि मैं आयो।
हे त्रिभुवन के नाथ ! रीझ को कछु न पायो॥

जो हो प्रसन्न तो देहु अब, मुकुति दान माँगू बिहस।
जो पै उदास तो कहहु इमि, मत धर रे नर स्वाग अस॥

—रहीम

यह सोरठा भी कुछ कुछ इसी भाव का है :—

मो हू दीजे मोष, ज्यों अनेक अधमनु दियो।
जो बाँधे ही तोष, तौ बाँधौ अपने गुननु॥

—बिहारी

पद्यानुक्रमणिका

(१) संस्कृत

श्लोक	कविनाम	पृ० सं०
पुरा कवीनां गणना		२६
पुष्पैपोरभिषेक		१२४
पृथुकार्तस्वरपात्रं		१८
प्रणमत्युन्नतिहेतो		७०
प्रतिकूलतामुपगते हि	[माघ]	१७४
प्रतिगतमर्भिजनानां		
प्रस्थानं वलयैः कृतं	[अमरुक]	२२९
प्रहरकमपनीय स्वं	[माघ]	२४१
प्राचीमहीधरशिला		१५२
प्रादुर्भूते नवजलधरे		२१२
प्राप्य प्रमाणपदवीं		२६१
प्रोज्झय मित्रमपवर्जित	[जयमाधव]	१७३
ब		
बद्धा यद्दर्पणरसेन	[भल्लट]	२९
बाहू द्वौ च मृणाल		१२२
भ		
भङ्क्तुं प्रभुर्व्याकरण	[श्रीहर्ष]	२४०
भवत्या विश्लेषे		२१४
भस्माच्छुरिततनु		७३
भास्वांश्चूततरु		२१७
भुजङ्गकुण्डलीव्यक्त		३
भुजे विशाले विमलेऽसिपत्रे	[विद्याधर]	४३
भूयिष्ठं द्रविणार्जनं		६७
म		
मध्यं तनूकृत्य		१२६
मनः कुत्रोद्योग		२७६

(२) हिन्दी

(३) उर्दू